पाँचवा अध्याय

xxx सिं हा व लो क न xxx

हिमांशु जोशीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का सभी पहलुओं से समग्र मूल्यांकन करने पर दृष्टिगोचर होता है कि मानवीय संवेदना से जुड़े जोशीजी का व्यक्तित्व बहुव्यापक है । वे लेखन के साथ - साथ पत्रकारिता भी करते हैं । वे प्रसिध्द पत्रिका "साप्ताहिक हिन्दुस्तान " के सह संपादक हैं । उन्होंने पत्रकारिता में भी अपना अच्छा योगदान दिया है । जोशीजी ने पहाड़ी, कस्बों और महानगरीय मध्य वर्ग पर जो कहानियाँ लिखी हैं, उसमें उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी है ।

जोशीजी के व्यक्तित्व पर कबीर जैसे संतों और महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे महान व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा है । जैनेन्द्रयकुमार, इलाचंद्र जोशी, यशपाल, भगवतीचरण - वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, वृंदावनलाल वर्मा जैसे अनेक बड़े - बड़े साहित्यकों का स्नेह उनको प्राप्त हुआ है । विरासत में उनकों पिता की सद्‌भावना मिली हुई है । संयुक्त परिवार का संस्कार भी उनपर हुआ है और पहाड़ी लोगों की आत्मीयता, अपनापन, स्नेहादर आदि उनके साथ है, जिससे उनका व्यक्तित्व फूल के समान दुःख में भी हँसता खिलता रहा है, जो हर एक को आशा का संदेश देता है । प्रत्येक व्यक्ति का दुःख उन्हें अपना लगता है । इसलिए वे अपने अनुभव के अनुसार दुःख के कीचड़ से कमल रूप पुष्प को खिलने का संकेत देते हैं । हर एक अनुभव से गुजरने के कारण उनकों कोई भी काम कम नजर नहीं आता । इसलिए लिखे हुए पत्र में वे मुझे प्रेरणा का संदेश देते हैं कि " जीवन में कोई काम छोटा - बडा नहीं होता । जब जो भी काम करों, पूरी आस्था और तन्मयता के साथ ।"[1] इस पत्र से मेरा उत्साह और भी द्विगुणित हो गया ।

जोशीजी का साहित्य उनके व्यक्तित्व से अलग नहीं है । उन्होंने स्वतंत्रता - पूर्व की स्थिति और बाद की स्थिति को देखा है, परखा है और भोगा भी है । इसलिए उन्होंने कहानियों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को प्रकट किया है । वे अपनी मिट्टी से ईमान रखनेवाले और नाता जोड़नेवाले लेखक हैं । कहानियों के पात्रों का चरित्र उद्‌घाटित करते समय लेखक का जीवन संघर्ष भी चित्रित हुआ है । वे अपनी और परिवेश की पीड़ा को समान्तर रूप से चित्रित करते हैं । इस पीड़ित समाज से वे इतने जुड़े हुए हैं कि उनसे उनका

व्यक्तित्व अलग करके देखना कठिन होता है । जैसे बेरोजगारी की समस्या को जोशीजी ने स्वयम् भोगा है । जिसे उन्होंने कहानियों में अभिव्यक्त किया है । ज़ब वे टनकपुर से साहित्यिक रुचि से प्रेरित होकर दिल्ली आ गये थे तब बेरोजगारी के कारण एकाध टयूशन लेकर अपना निर्वाह करते थे । इसलिए यह समस्या " अभाव ", " दंशित ", " आदमियों के जंगल में " आदि कहानियों में चित्रित करते समय जोशीजी की संवेदना दृष्टिगोचर होती है ।

हिमांशुजी एक भावुक कहानीकार हैं । उनको आम - आदमी का दुःख अपना लगता है । यही कारण है कि उनकी कहानियों का मूल विषय निम्न या शोषित वर्ग की पीड़ा एवं जीवनगत विसंगतियों को चित्रित करना है । उनकी सच्ची संवेदना उन लोगों से जुडी हुई है जो शोषित, पीड़ित है, फिर भले वे पहाड़ी हो या महानगरीय, स्त्री हों या पुरुष । आप शोषितों का पक्ष लेकर उनके दुःख को उजागर करते हैं ।

जोशीजी ने चमत्कृतिजन्य ढंग से लिखकर किसी को चौकांने की कोशिश नहीं की है, जो जैसा है, वैसा ही चित्रित करने का प्रयास किया है, उनके शब्द ह्दय से निकलते हैं, इसलिए उनमें संताप और आक्रोश भी व्यक्त होता है ।

जोशीजी आशावादी साहित्यिक हैं, उनको समस्त साहित्य का भविष्य उज्वल लगता है, उन्हें अंधियारे में भी कुछ चमकने का अहसास होता हैं । आधुनिक परिस्थिति के कारण आज वे भावुकता के साथ - संघर्ष करने की ओर प्रवृत्त भी हो रहे हैं और कलम के माध्यम से तेज तलवार चलाने की कोशिश भी कर रहे हैं ।

जोशीजीके मन में आम - आदमी की परिस्थिति और पीड़ा को देखकर आक्रोश पैदा होता है, परन्तु वे उत्साह - रहीत नहीं हैं ।

विशेषतः उनकी राजनीतिक कहानियों में उनके मन का आक्रोश तडपकर व्यंग्यात्मकता से प्रकट हुआ है ।

इस प्रकार जोशीजी पहाड़ी और महानगरीय जीवन जीनेवाले और उसे सजीव स्वरूप

देनेवाले एक सफल कहानीकार हैं, जिससे, नए कहानीकारों की भीड़ में उनका व्यक्तित्व और कृतित्व भी अपना अलग महत्व रखता है ।

जोशीजी ने कहानी और नई कहानी के आन्दोलन पर कई महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं --

"1) कहानी यथार्थ और कल्पना के ताने - बाने से बनती है, जिसमें अनुभव की अभिव्यक्ति होती है ।

2) स्वाधीनता के बाद की परिस्थितियों की उपज " नई कहानी " का आन्दोलन है, जिसमें कुछ कमियाँ हैं ।

3) सही साहित्य, आन्दोलन से प्रभावित नहीं होता और अच्छी कहानियाँ बिना आन्दोलनों के हर दौर में लिखी जाती रही हैं ।

4) पाठकों को बाँधे रखनेवाला मूल तत्व ही नई कहानियों में से गायब होने लगा था।

5) शहरों का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य पूरे साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता ।

6) इन दोनों कारणों के कारण " नई कहानी " का आन्दोलन पिछडने लगा और यह आन्दोलन सिर्फ बुध्दिजीवियों का रहा ।

7) आन्दोलनों का संबंध सनातन मूल्यों और साहित्यिकता से कम और व्यावसायिकता से अधिक रहा है, जिसके कारण बाह्य आकार विस्तृत और अंतरिक आकार संकुचित हुआ है ।

8) काल के प्रवाह में वही टिक सकता है, जिसकी, जडें सुदृढ हो और बाहर की अपेक्षा भीतरी गहरी हों ।

9) लेखक के अनुभव दृष्टि घटना को जीवंत और कालजयी बना देती है ।

10) जोशीजी मानव निर्मित यंत्रणाओं को वाणी देनेवाले साहित्य को सार्थक समझते हैं । "[2]

स्वतंत्रता के पश्चात् का भारत नई कहानी में चित्रित है । उससमय भारत की परिस्थिति पूर्णतः बदल गई थी । नए कहानीकारों ने स्वतंत्रता के पूर्व और बाद की परिस्थिति देख ली थी, जिसके कारण उनके मन में उदासीनता छाई हुई थी । इसलिए उनकी कहानियों में विद्रोह या संघर्ष नहीं दिखाई देता है । यही कारण है नई कहानी अलग ढंग से लिखी जाने लगी । स्वाधीनता पूर्व कहानियों में जो आदर्श, उपदेशों और सपनों की कहानियाँ थीं, उन तत्वों को त्यागकर, भोगे हुए जीवन को ही नए कहानीकार चित्रित करने लगे ।

इसलिए " नई कहानी " में अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है । नई कहानी में महानगरीय और ग्रामीण आँचलिक जीवन का चित्र प्रस्तुत है । हिमांशु जोशीजी ने इन दोनों का चित्रण अपनी कहानियों में किया है ।

हिमांशु जोशीजी ने " सौ " तक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से कुलमिलाकर हमें इक्यावन कहानियाँ मिली हैं । इन इक्यावन कहानियों में विविध विषयों की चर्चा हुई है । इन इक्यावन कहानियों का अनुशीलन करने के लिए हमने समस्या ओं के आधारपर वर्गीकरण किया है । जैसे -

1) सामाजिक समस्या
2) आर्थिक समस्या
3) राजनीतिक समस्या ।

जोशीजी की कहानियों में इन समस्याओं के माध्यम से आधुनिक जीवन का उद्‌घाटन हुआ है । ये तीनों समस्याएँ एक दूसरे से संलग्न हैं । इन समस्याओं में हर एक समस्या अपने आप में महत्व रखती है । जोशीजी की इन समस्याओं पर आधारित सभी कहानियों में समस्या तो उद्‌घाटित हुई है, लेकिन उसपर सुझाव किसी एक कहानी में दिखाई नहीं देता

अतिरिक्त " फैसला " कहानी । विशेषतः सभी कहानियों के अंत दुःखात्मक हैं । सामाजिक समस्याओं में अनेक समस्याएँ हैं जैसे पारिवारिक समस्या, नारी समस्या, बेरोजगारी की समस्या, प्रेम विषयक समस्या, नौकरी पेशा औरतों की समस्या और महानगरीय मध्यवर्ग की समस्या । पारिवारिक समस्याओं में संयुक्त परिवार और दाम्पत्य संबंधों का प्रश्न उठाया गया है । जोशीजी संयुक्त परिवार टूटने का खेद और विवाह संस्था के प्रति अविश्वास भी व्यक्त करते हैं । वे पति - पत्नी के टूटते संबंधों के कारण निराश है ।

नारी विषयक समस्या में उन्होंने अविवाहिता लड़कियों के विवाह का प्रश्न उठाया है, जैसे " नाव पर बैठे हुए " की वसुधा घर की जिम्मेदारी के कारण विवाह नहीं करती, जीना - मरना की बरखा की शादी आर्थिक विपन्नता के कारण नहीं होती । जोशीजी ने परित्यक्ता, विधवा नारियों की मनोवेदना पर प्रकाश डाला है । अंतरजातीय विवाह के प्रति उनका आग्रह " कटी हुई किरणें " में स्पष्ट हुआ है । नारी समस्या का उद्‌घाटन करते समय उनका सुधारवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है । उन्होंने इस समस्या में स्त्री - पुरुष संबंध का उल्लेख किया है ।

जोशीजी की प्रेम विषयक समस्या में वासनारहित प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है । इसमें जोशीजी ने नारी का प्रेम व्यक्त किया है, पुरुष का प्रेम व्यक्त नहीं हुआ है । जोशीजी ने शारीरिक प्रेम को गौण मानकर मानसिक और आत्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है । इनकी प्रेम कहानियों में नारी अविवाहित, अकेली, असफल और मानसिक दुःख से पीड़ित है ।

जोशीजी की नौकरी करनेवाली औरतों की समस्या में मानसिक और शारीरिक अत्याचार सहनेवाली नारी चित्रित है । इसमें विद्रोह करनेवाली नारी चित्रित नहीं है, वह तो अपने ही अंतर्द्वंद्व से पीड़ित है ।

बेरोजगारी समस्या में जोशीजी ने पहाड़ी और महानगरीय मध्यमवर्गीय शिक्षित युवक - युवतियों के जीवन की गहरी वेदना और मजबूरन नीचा सिर झुकाने का चित्रण किया हैं ।

LIBRARY

महानगरीय समस्या में जोशीजी ने तनावग्रस्त, आतंकवादी वातावरण का चित्रण किया है, जिसमें आत्मीय संबंध का टूटना, अकेलापन, अस्तित्वहीनता और पारिवारिक तनावग्रस्त वातावरण चित्रित है ।

जोशीजी ने महानगरीय और पहाड़ी निम्न मध्यवर्गीय लोगों की भयावह आर्थिक परिस्थिति का चित्रण किया है, जिसमें मनुष्य अर्थ के बिना निराश, दुर्बल, अतृप्त और कमजोर हो गया है ।

जोशीजी की राजनीतिक कहानियाँ अपना विशेष महत्व रखती हैं । इन कहानियों में लेखक का दृष्टिकोण भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था को उजागर करता है । इन कहानियों के माध्यम से जोशीजी का शासकीय व्यवस्था के प्रति आक्रोश ही स्पष्ट हुआ है । जोशीजी की राजनीतिक कहानियों में " जो घटित हुआ ", " एक वट वृक्ष था ", " समुद्र और सूर्य के बीच" " जले हुए डैने ", " आदमी जमाने का " आदि प्रसिध्द कहानियाँ हैं ।

" जो घटित हुआ " कहानी में जोशीजी ने मुक्त कल्पना के व्दारा राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंग्यात्मकता से चोट की है, जिसमें हर एक घटना का विपरीत अर्थ प्रस्तुत है ।

इसमें हमारे देश में क्या चलता है इसका चित्रण किया है कि जैसे राशन की दुकानों मे पत्थरों की मिलावट कैसी होती है, मकान किस तरह बाँधे जाते हैं, देश की सीमाओं की सुरक्षा कैसी की जाती है, भेड़िए राज्य कैसे कर रहे हैं, देशप्रेमियों की हत्याएँ कैसी हो रही हैं, राजपुरुषों की स्थिति आज के युग में कैसी हो रही है,

गांधी और बुध्द के चरित्र कैसे बेचे जाने लगे हैं, इतिहास की हत्या कैसी हो रही है इन प्रश्नों का उत्तर मुक्त कल्पना के व्दारा दिया गया है । इसमें जोशीजी ने आज की देश की स्थिति के प्रति आक्रोश अभिव्यक्त किया है ।

" एक वटवृक्ष था " कहानी एक राजनीतिक व्यंग्य प्रस्तुत करती है, जिसमें बोध - कथा, प्रतीक और फन्तासी का एक साथ प्रयोग हुआ है । इसमें टोपी नेतागिरी के प्रतीक के

रूप में चित्रित हैं । लेखक ने इसमें फंतासी का उपयोग फैशन के लिए नहीं बल्कि माध्यम के लिए किया है । इस कहानी में यह चित्रित हुआ है कि राजनीतिक लोग चुनाव के पहले और चुनाव जीतने के बाद किसतरह आम आदमी की विटम्बना करते है । इस कहानी में कहानीकार का शिल्प सामर्थ्य दिखाई देता है, इसमें सीधे - सादे संवादों में हास्य - व्यंग्य करके नेता लोगों की भ्रष्ट नीति का पर्दाफाश किया है ।

" समुद्र और सूर्य के बीच " कहानी में लेखक का उद्देश्य यह रहा है कि आम आदमी की यंत्रणा का मूल कारण ढूंढना । जोशीजी ने इस कहानी में भ्रष्ट मंत्री की असली कथा बयान की हे, जो सत्य के बहुत निकट है । इसमें सपनों की कल्पना करके एक भ्रष्ट मंत्री को आत्मारुपी न्यायालय में खड़ा करके सजा दी है, जिससे भ्रष्ट मंत्री की गवाही में भ्रष्ट राजनीति का भेद खुल जाता है । इसमें खादी का रूमाल और बेड़ियों का व्यंग्यात्मकता से उपयोग किया है । इस कहानी का अंत पूरा कल्पनात्मक है, जो सत्य नहीं है ।

" जलते हुए डैने " में शोषण - प्रधान व्यवस्था के विरुध्द आम - आदमी का संघर्ष चित्रित है । इस कहानी में जोशीजी ने भारतीय मनस की दुविधाओं को समझकर प्रगतिवादिता की ओर संकेत किया है ।

" कोई एक मसीहा " हिमांशु जोशीजी की सहज और सरल शैली में लिखी हुई कहानी सत्य के बहुत निकट है । यह कहानी संकेत देती है कि ऊपर से सुरक्षित लगनेवाली महिलाश्रम जैसी सरकारी संस्था, भीतर से बहुत - ही अपवित्र है, जिसमें सुरेश भाई जैसे राजनेता पवित्रता का ढ़ोंग रचाकर ग्राण्ट के नाम पर लड़कियों की इज्जत लुटकर उन्हें बरबाद करते हैं ।

" आदमी जमाने का " में लेखक ने गाँव के स्वार्थी मुखिया का चरित्र उद्घाटित किया है । इसमें यह चित्रित किया गया है कि स्वार्थ से अंधा होकर एक मनुष्य आम-आदमी और पढ़े - लिखे सरकारी अधिकारियों को कैसे धोखा देता है । इसमें जोशीजी ने सरल शब्दों में अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है ।

जोशीजी की राजनीतिक समस्याओं में भ्रष्ट राजनीतिक नेताओं का चरित्र उद्घाटित हुआ है, जो आम - जनता के दुख का कारण बन गया है ।

जोशीजी की सभी कहानियों में चित्रित समस्याओं की चर्चा हमने तीसरे अध्याय में की हैं । जोशीजी की प्रत्येक कहानी अपनी समस्या में अलग महत्व रखती है, यही जोशीजी की कहानियों की विशेषता है । नई कहानी में ऐसी समस्याएँ चित्रित हुई हैं, परन्तु जोशीजी ने इन सभी समस्याओं में पहाड़ी और महानगरीय परिवेश के माध्यम से उजागर करने का प्रयत्न किया है, इन कहानियों में जो भी कुछ चित्रित हुआ है, वह यथार्थ के धरातल पर ही हुआ है । इनमें कही भी मनोरंजन या चमत्कार का तत्व मौजूद नहीं है ।

प्रमुख उपलब्धियाँ :-

1) जोशीजी स्थिति के द्रष्टा और जागरुक लेखक हैं, जिन्होंने अपने समय की परिस्थिति का अभ्यास करके सार्वजनिक समस्याओं का उद्घाटन किया है ।

2) जोशीजी की कहानियों में ग्रामीण, कस्बाई, महानगरीय वातावरण जीये, निम्न मध्य वर्गीय लोगों का चित्रण हुआ है ।

3) गाँव, कस्बे और महानगर में पीड़ित लोगों का मुख्य कारण आर्थिक दुर्बलता और भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था है ।

4) जोशीजी की कहानियों में जीविका का प्रश्न ही मुख्य है ।

5) उनकी मनःस्थितियों पर केंद्रित कहानियाँ द्वंद्वग्रस्त हैं जो निर्णयात्मक बिन्दु तक पहुँचने का प्रयास करती है ।

6) जोशीजी की आँचलिक कहानियों में खोखले विकास के प्रति संताप और नैतिक आधार पर विकास की प्रतीक्षा एवं परिवर्तन के प्रति आशावाद का स्वर अभिव्यक्त हुआ है ।

7) जोशीजी की प्रेम कहानियों में प्रेम का रूमानी रूप व्यंजित न होकर मनःस्थितियों का द्वंद्व, भावना की टकराहट, जटिलता, तनाव आदि मानसिक बदलाव की अभिव्यक्ति हुई है ।

8) जोशीजी की कई कहानियों में काम - संबंधों को केन्द्र में रखकर आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है ।

9) जोशीजी ने युवको के बेरोजगारी समस्याओं के बारेमें आज के सामाजिक यथार्थ को अत्यंत सफाई से चित्रित किया है ।

10) जोशीजी की कहानियों में आत्मकथनात्मक, ऐतिहासिक डायरी, पत्रात्मक, पूर्वदीप्ति और प्रश्नात्मक शैलियों का प्रयोग हुआ है ।

11) सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं यथार्थ की गहरी पकड़ हिमांशु जोशी की कहानियों की प्रमुख विशेषता है ।

भविष्य के लिए निर्देश :-

हिमांशु जोशीजी की कहानियों का अध्ययन करने के पश्चात् हमें अनुभव आया कि नई कहानी के समग्र साहित्य का पुनःमूर्ल्याकन होना आवश्यक है, जिसके कारण अनेक नवीन तथ्य उपलब्ध हो जायेंगे और अनेक नए कथाकार जो अप्रकाशित हैं, प्रकाश में आ जाऐंगे ।

जोशीजी की कहानियों का वर्गीकरण और तरीके से भी किया जा सकता है जैसे --

1) " हिमांशु जोशी और यथार्थवाद " के आधार पर ।
2) जोशीजी की कहानियों में शैली - शिल्प की नवीनता ।
3) जोशीजी की कहानियों में पहाड़ी जीवन का चित्रण ।
4) जोशीजी की कहानियों में पुरुष पात्र या नारी पात्र आदि पध्दति से भी जोशीजी की कहानियों का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

निष्कर्ष :-

जोशीजी ने मुख्य रूप से पहाड़ी और महानगरीय दरिद्रता, गरीबी, बेरोजगारी, अकेलापन, अजनबीपन और मानसिक अन्तर्द्वंद्व चित्रित किया है, जिसमें वे पूरी तरह से सफल हुए हैं । जोशीजी आम आदमियों के सुख - दुःख से जुड़े हुए एक समाजजीवी कथाकार हैं, इसलिए उन्होंने "एक सुकरात और " कहानी में भूख क्या है ? समाज किसे कहते हैं ? राष्ट्र क्या है ? धर्म क्या है ? सत्य किसे कहते हैं ? आदि प्रश्नों को उठाया है । यह उनकी, मानसिक द्वंद्व की परिणति है ।

इसप्रकार जोशीजी का कथाकार सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ से जूझता है । इसलिए यथार्थ के आधार पर लिखी हुई उनकी कहानियाँ अपना अलग सौंदर्य रखती हैं, वे कहानियाँ बार - बार पढ़ने के बाद भी रोचक लगकर ह्दय को भिड़ती हैं । कुछ कहानियाँ जैसे " अक्षांश " अपवादात्मक हैं, जो समझने में थोडी - सी कठिन लगती हैं । खुद जोशीजी भी यह अच्छी तरह से जानते हैं । उनका ही कथन है - " अक्षांश " कहानी को निगूढ (एक्सट्रेक) कहानी कहना अधिक उचित होगा । यह फेंटेसी के निकट है । इस तरह के कथा - प्रयोग मैंने कभी - कभी किए है, जो वास्तविकता के निकट होते हुए भी कभी - कभी असम्भव से लगते हैं और पाठकों को किंचित चौकाते भी हैं । अंत में पढ़ने के उपरान्त पाठकों को बहुत कुछ सोचने के लिए विविश भी करते हैं । "[3]

" अक्षांश " कहानी में " मैं " एक निवेदक है, जो अपने किए कर्मो को एक - एक करके कहता हैं । इसका नाम लोकेश है, वही इन सब परिस्थिति के लिए जिम्मेदार है । लोकेश याने ईश्वर, सब कुछ करनेवाला भी वहीं है और भुगतनेवाला भी । ईश्वर के बिना न क्रांति हो सकती है न शांति मिल सकती है । वही सब कुछ करने के लिए मजबूर करता है । हर एक मनुष्य अपनी जिंदगी की छिछली चट्टाने चढ़ता है और उतरता भी है । इसमें फिसल ने का भय होता है, परन्तु लोकेश के कारण चढ़ते उतरेने का काम चलता ही रहता है । यह एक कभी खत्म न होनेवाला चक्र है ।

जोशीजी ने एक अलग शिल्प और कथा के व्दारा ईश्वर के अस्तित्व का बोध कराया है । जैसे निसर्ग क्रोधित होकर ज्वालामुखी पहाड़ो के अंदर से निकल पड़ता है और अंत में

शांत होता हैं, उसी प्रकार इस पृथ्वी का पाप नष्ट होने के लिए एक क्रांतिरूपी ज्वालामुखी की आवश्यकता लेखक महसूस करते हैं, जिसका संकेत कहानी के शुरु के वाक्य से मिलता है - "किसी दिन कोई एक पत्र आयेगा और एक ही क्षण में मेरा सारा भाग्य बदल जायगा । मेरी अंतहीन यातनाएँ, जिन्हें मैं सदियों से निरंतर सह रहा हूँ, समाप्त हो जायेगी । यदि आज न भी आया तो न सही, कल या उससे आनेवाले कल या, उससे और आगे आनेवाले किसी एक " कल " उसे अवश्यक ही आना है । " [4]

इसतरह जोशीजी संकट से निबटाने के लिए क्रांति की प्रतीक्षा करते हैं और पाठकों को यह संकेत देते हैं कि आज नहीं तो कल परिवर्तन आकर शांति जरूर आयेगी । इसमें जोशीजी का आशावादी दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है ।

****

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR

संदर्भ

			तारीख	पृ.
1)	हिमांशु जोशी	पत्र	09-05-1993	1
2)	- " -	साक्षात्कार		1-13
3)	- " -	पत्र	09-05-1993	2
4)	- " -	इक्यावन कहानियाँ		392

*****

मेरा बचपन

मेरा जन्म 4 मई 1935 को उत्तर प्रदेश के पर्वतीय अंचल अल्मोड़ा जिले के जोस्यूड़ा (जोशियों का गाँव) नामक गाँव में हुआ था। मेरे पिता स्वाधीनता-संग्राम से सक्रिय रूप से जुड़े थे। कई बार उन्हें जेल-यात्राओं में जाना पड़ा तथा उनके ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष के कारण परिवार के लोगों को भी अनेक यंत्रणाएँ झेलनी पड़ी।

गाँव में खेती होती थी। थोड़ा व्यापार भी था। संयुक्त परिवार होने के कारण सारे कार्य चलते रहते थे। पिताजी की जेल-यात्राओं का कुछ प्रभाव तो घर के कामों में पड़ता था, किन्तु बहुत बड़ा आर्थिक संकट नहीं झेलना पड़ता था।

पैदा तो अवश्य मैं जोस्यूड़ा गाँव में हुआ, किन्तु बचपन का सारा समय बीता खेतीखान Khetikhan नामक छोटे से कस्बे में। यह स्थान जोस्यूड़ा से लगभग तीन मील दूर था। लोहाघाट से अल्मोड़ा जाने वाली सड़क के किनारे। यहाँ मिडिल स्कूल तक शिक्षा थी। डाकखाना था। बाजार में कुल 20-25 छोटी-बड़ी दुकानें थी।

यहाँ भी हमारा मकान था। खेत थे। दुकान थी, जिस में कपड़े के अलावा दैनिक उपयोग की सामग्री भी बिकती थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न परिवार था। सामाजिक प्रतिष्ठा भी थी। पिताजी बड़े उदार थे। जितना कुछ बन सकता था, सब जरूरतमन्दों की सहायता करते थे। उनका सारा जीवन देश-सेवा में बीता। सन 1941 में जब मैं मात्र 7 साल का था, कानपुर में उनका देहान्त हो गया।

चूंकि संयुक्त परिवार था, इसलिए हमारा भरण-पोषण ठीक ढंग से चलता रहा, किन्तु धीरे-धीरे अनेक कठिनाइयाँ उभरने लगीं। कारोबार शिथिल हो गया। आय के साधन सीमित होने लगे, और दायित्व निरन्तर बढ़ते चले गए। इससे हमारे संघर्षों का एक नया दौर आरम्भ हो गया। इन संघर्षों ने मुझे बहुत कुछ सीखने का अवसर दिया।

...LIBRARY
...IVAJI ... KOLHAPUR

संघर्ष अभिशाप ही नहीं, कभी वरदान भी सिद्ध होते हैं; आज जब सोचता हूँ तो लगता है, यदि मैंने बचपन में अनेक कठिनाइयाँ न झेली होतीं, तो शायद मेरे लेखन में संवेदनाओं की तीव्रता कभी भी न आ पाती। भावुक तो मैं था ही जन्म से, किन्तु परिस्थितियों ने उसको एक आयाम देकर मुझे कृतार्थ किया। अभाव क्या होता है? उपेक्षा का दंश कितना पीड़ाप्रद होता है? मैंने समय से पहले ही, जिंदगी की पाठशाला में पढ़ लिया था।

खेतीखान के मिडिल स्कूल की पढ़ाई पूरी करके मैं वहाँ से लगभग 64 मील दूर नैनीताल पढ़ने के लिए गया। तब मोटर मार्ग नहीं थे। पैदल ही प्रायः जाना होता था। यह बात है 1948 की।

नैनीताल 5 साल रहा। आर्थिक अभावों के कारण आगे विद्यालय में विधिवत पढ़ पाना सम्भव न रहा तो शेष पढ़ाई प्राइवेट (Private) परीक्षाओं से पूरी करता रहा।

टनकपुर (नैनीताल जिले में एक कस्बा है, नेपाल की सरहद पर) में कुछ समय अध्यापकी की। यहाँ भी हमारा पुश्तैनी मकान था। दुकानें थीं। बगीचा तथा फार्म था। धीरे-धीरे ये सब बिक गए। मैं तब पढ़ाने के साथ-साथ ट्यूशनें भी किया करता था।

नौकरी के लिए जिन जिन प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठा, सब में मेरा चुनाव हो गया। परन्तु मेरे मन में शायद कुछ और ही करने का इरादा पनप रहा था। मुझे ये सब निरर्थक लगने लगे। हाँ, विश्वविद्यालय में विधिवत पढ़ने की बड़ी लगन थी, जो संघर्षों के कारण कभी भी पूरी न हो पाई। पता नहीं, लेखक बनने के वर्षों बाद भी मैं सपने देखता रहा कि जैसे मैं परीक्षा दे रहा हूँ या किसी विश्वविद्यालय में दाखिला ले रहा हूँ।

आज मुझे लगता है कि यह अच्छा ही हुआ। मेरी मौलिकता, मेरा मौलिक चिंतन बरकरार रहा। मैंने इतना अधिक इस बीच पढ़ा, कि सारी सम्भावनाएं पूरी हो गईं।

सन 1948 में गाँधी जी का देहान्त हुआ, तब मैंने पहली कविता लिखी थी। सातवीं कक्षा का छात्र था। उम्र थी कोई 13-14 साल।

उसके पश्चात वर्षों तक कविताएँ लिखता रहा। एक तरह का यह पागलपन जैसा ही था कि परीक्षा के दिनों में भी रात को जाग कर कविताएँ लिखा करता था।

फिर सहसा एक दिन कहानियों का दौर शुरू हुआ तो वह धुआँधार चलता रहा है — आज तक।

जब रुड़की में पढ़ रहा था, महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' पढ़ कर इतना प्रभावित हुआ कि जीवन में कुछ करने के लिए निकल पड़ा। लिखने-पढ़ने की अदम्य लालसा एक दिन मुझे दिल्ली ले आई। दिल्ली में न रहने की ही कोई उचित व्यवस्था थी, न रोज़ी-रोटी की। रुड़की से बिना त्यागपत्र दिए ही मैं चला आया था। मिल में काम करनेवाले एक रिश्तेदार के घर पर रह रहा था। दिल्ली आते ही, जिस मकान में रिश्तेदार के साथ रह रहा था, उसके मालिक की जमानत दिला कर 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' का सदस्य बन गया। और अपने नाम से दो कार्ड बनवा लिए। एकाध ट्यूशनें करता, दिन भर पुस्तकालय में बैठ कर लेख लिखता। शाम को प्रायः पैदल दस-बारह मील चल कर डेरे पर पहुँचता। वहाँ जो समय बचता कहानियाँ लिखा करता था।

उन दिनों दिल्ली से 'नवनीत' की तरह एक हिंदी डायजेस्ट 'इन्द्रधनुष' प्रतिमाह प्रकाशित होती थी। उसके लिए हर महीने आठ-दस लेख विविध विषयों पर लिखता। अच्छी कहानियों के अनुवाद तैयार करता। सम्पादक बड़े सहृदय थे। उन्होंने उप सम्पादक के रूप में मेरा नाम प्रकाशित किया था। जहाँ तक वेतन का सवाल था, वह कुछ भी मिलता न था। सम्पादक ने कहा था — पत्रिका घाटे में निकल रही है। मैं भी अवैतनिक काम कर रहा हूँ। आप भी कीजिए। कभी पत्रिका से कुछ आमदनी होने लगेगी तो आप-हम सब उसके अधिकारी होंगे।

इन्हीं संघर्ष के दिनों में मैंने अपनी कहानी 'बुझे दीप' लिखी थी, जो किसी राष्ट्रीय हिंदी दैनिक पत्र के 'रविवासरीय' में छपी थी। उन्हीं दिनों 'इन्द्रधनुष' में 'निर्वासन' नाम से लियो टालस्टाय की कहानी The long Exile का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुआ था। मेरी अनूदित यह पहली प्रकाशित कहानी थी। और 'बुझे दीप' पहली मौलिक कहानी जो प्रकाशित हुई थी।

बचपन से ही मेरे मन में कुछ असाधारण-सा करने का संकल्प था। अस्पष्ट भाव था। चित्रकारी का भी बड़ा शौक था। बचपन से ही चित्र बनाया करता था। इच्छा थी कि लखनऊ आर्ट कॉलेज में 5 साल का पाठ्यक्रम पूरा करूँ। या फिर एक और आकांक्षा — 'शांति निकेतन' में पढ़ने की। परन्तु यह साध पूरी न हो पाई — अनेक अभावों के कारण। अभिनय का भी शौक था। नाटकों में भाग लेता था। कई पुरस्कार भी जीते, परन्तु इस दिशा में भी आगे बढ़ने का मार्ग मिल न पाया। जहाँ तक लिखने का शौक था, यह विशुद्ध मेरे मन था। इसके लिए किसी साधन की भी

आवश्यकता न थी। लिखने लगा था, खूब मेहनत से। एक ही रचना को बार-बार लिखना। काटना। सुधारना। जब तक वह मेरे मन के मुताबिक न होती, यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती। यह आदत आज भी उसी तरह कायम है।

लेखन के क्षेत्र में मेरा मार्ग निरन्तर प्रशस्त होता चला गया, लगातार लिखता रहा हूँ। कहानियाँ, उपन्यास, यात्रा-वृत्तान्त, कविताएँ, संस्मरण, साक्षात्कार। शायद ही कोई क्षेत्र छूटा हो।

अनेक संघर्ष किए। गत २२ साल से पत्रकारिता में हूँ, लिखते भी रहा हूँ।

1965 में मेरा पहला कहानी-संग्रह 'अन्ततः' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष पहला उपन्यास 'बुरांश फूलते तो हैं।' (जो बाद में 'अरण्य' नाम से छपा) प्रकाश में आया। 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' का पुरस्कार भी इसे मिला। इन्हीं दिनों बच्चों के लिए भी लिखता रहा। 'तीन तारे' नाम से एक बाल-उपन्यास लिखा जो इलाहाबाद से प्रकाशित बाल मासिक पत्र 'मनमोहन' में धारावाहिक रूप से छपा था। यह सम्भवतः पहला बाल-उपन्यास था जो धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था।

दिल्ली आने पर हिन्दी के प्रायः सभी लेखकों का स्नेह मिला। जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, वृंदावनलाल वर्मा — अमृतलाल नागर —→ नक्षत्रों की एक लम्बी कतार है।

दिल्ली में पठन-पाठन का भी क्रम चलता रहा। थोड़ी-सी जर्मन सीखी। तिब्बती सीखी। बांग्ला सीखी। गुजराती, नेपाली का भी कुछ अभ्यास किया। Painting का भी कुछ प्रयास चला। किन्तु समय की कमी से रह गया।

हिमांशु जोशी

साक्षात्कार : हिमांशु जोशी

D47

प्रश्न - लिखने की प्रेरणा कब, किससे और किस तरह मिली ?

उत्तर - लिखने का व्यसन मुझे बचपन से रहा है। जब छठी-सातवीं में पढ़ता था, तब कुछ तुकबंदियां कर लेता था और समझता था कि मुझे सब कुछ आता है और आज थोड़ा बहुत लिखकर लगने लगा है कि मुझे कुछ भी नहीं आता, लिखना तो बिल्कुल भी नहीं। पहले कविताएँ लिखता था। कविताओं का यह दौर चार-पाँच साल तक चला। परीक्षा की यानी अग्नि परीक्षा की घड़ियों में भी कविता याद आती थी। यह पागलपन धीरे-धीरे कम हुआ। पाँव आसमान से धरती पर टिकने लगे, और इस टिकने की प्रवृत्ति ने कहानी को जन्म दिया। कविता पता नहीं कब, कहाँ छूट गयी ? मुझे कहानी की घटनाओं के बनाने-बिगाड़ने में ही अब रस आने लगा। एक कहानी कई बार लिखता, सुधारता, किन्तु उन्हें कहीं छपने देने का साहस न होता। १९५४ में अभी पढ़ ही रहा था कि मेरी एक कहानी की पाण्डुलिपि जैनेन्द्र जी ने देखी। मैंने दिखाने के लिए नहीं दिखायी थी, चूंकि मैं यों ही मिलने गया था। कहानी बेलन की तरह यूं ही लपेटकर हाथ में थामे था। जैनेन्द्र जी ने जिद की, माँग ली और पढ़ ली और पढ़ने के बाद कहा कि यह तो छप सकती है, बहुत अच्छी है। मुझे विश्वास न हुआ, तो उन्होंने जोर देकर कहा किसी संपादक को दे दो, वह जरूर छापेगा। डरते-डरते मैं संपादक की मेज पर चुपचाप उसे रख आया और कुछ दिनों बाद मैंने देखा कि वह कहानी तो छप गयी है। वह मेरी पहली कहानी थी जो 'मुझे दीप' नाम से प्रकाशित हुई थी।

प्रश्न : 'इक्यावन कहानियाँ' की भूमिका में आपने लिखा है -- 'कहानी एक कल्पना। एक सच। नहीं, जीवन का यथार्थ। नहीं, जीवन का जीकिा अयथार्थ।' अपनी कहानी के संदर्भ में इस टिप्पणी के किस संदर्भ को स्वीकार करेंगे ?

उत्तर : कहानी यथार्थ और कल्पना के ताने-बाने से बनती है। इसलिए वह एक सीमा तक बहुत सच है और दूसरी सीमा तक बहुत झूठ। लेकिन लेखक इस झूठ और सच के सम्मिश्रण से एक तीसरा यथार्थ प्रस्तुत करता है, वह यथार्थ सच और झूठ का सम्मिश्रण होते हुए भी पाठक को सच लगता है और इसलिए कहानी, जिसका अर्थ स्वयं में सच नहीं है, सच लगने लगती है। जहाँ तक मेरी कहानियों का प्रश्न है, मैंने मात्र कल्पना आधारित कभी कुछ लिखने का दुस्साहस नहीं किया। जो कुछ भी लिखने की कोशिश की, उन्हें कहीं भोगे हुए यथार्थ और देखे हुए यथार्थ एवं सुने हुए, समझे हुए यथार्थ के समीप रखा। जो रचना सच के जितने निकट होगी, लेखक के आत्मसात् अनुभवों की आधारशिला पर खड़ी होगी, वह कभी प्रभावहीन नहीं हो सकती। यूं तो समाचार-पत्रों की घटनाएं नितांत सत्य होती हैं, किन्तु वे कहानी नहीं होतीं। मुझे लगता है कि लेखक की ~~कहानि~~ अनुभवी दृष्टि किसी घटना को जीवंत बना देती है और कालजयी भी, इसलिए कहानी सच न होकर भी सच से कहीं अधिक प्रभावित करती है।

प्रश्न : आप 'नयी कहानी' के पश्चात् अन्य हिन्दी कथा-आन्दोलनों की स्थिति के विषय में क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : 'नयी कहानी' का आन्दोलन अधिक था। [यह ठीक है कि] स्वाधीनता के पश्चात् हमारा परिवेश, हमारा आचार-व्यवहार, हमारा चिंतन, हमारी जीवन शैली आदि में अनेक परिवर्तित आए। परिवर्तन स्वाभाविक था, लेकिन जिस तरह 'नयी कहानी' का आन्दोलन चला, कहीं उसमें कुछ कमी लगती है। पश्चिम का प्रभाव स्वाधीनता के बाद बाढ़ की तरह भारत और भारत जैसे अनेक विकासशील देशों को प्रभावित करता रहा। इसमें बहुत-सी अच्छाइयाँ थीं, तो कमियाँ भी कुछ कम नहीं थीं। व्यावसायिकता का इसमें महत्त्व बढ़ा और मानव-मूल्यों एवं मानवीय दृष्टिकोण में कुछ गिरावट आयी। औद्योगिक विकास, विस्तार के लिए हाथ-पाँव छटपटा रहा था और मनुष्य इसके साथ-साथ बौना और अधिक बौना नजर आने लगा था।

मुझे लगता है कि इन सारी परिस्थितियों एवं स्थितियों की उपज रहा 'नई कहानी' का आन्दोलन ।] मैं मानता हूँ कि साहित्य जहाँ से जुड़ा रहता है और जड़ें जीवन से । जो साहित्य आकाश बेल की तरह सतही भावनाओं को प्रश्रय देता है, वह चिरंजीवी नहीं रहता ।'नई कहानी' के पीछे भी कुछ ऐसी ही दृष्टि थी ।'नए' के नाम पर शीघ्र स्थापित होने की ललक । काफ्का, कामू या सार्त्र का वातावरण अलग था । भारत जैसा निर्धन देश, जो अभी-अभी पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होकर धीरे-धीरे लड़खड़ाता हुआ चलना सीख रहा था, उसकी परिस्थितियाँ, उसका संघर्ष, उसकी आकांक्षाएँ और कुंठाएँ कुछ और थीं । यूँ तो अच्छी कहानियाँ बिना आन्दोलनों के भी हर दौर में लिखी जाती रही हैं और लिखी जाती रहेंगी, लेकिन 'नई कहानियों' से जो अपेक्षित था वह धीरे-धीरे भ्रम में परिवर्तित होने लगा ।

कुण्ठा, निराशा, हताशा का साहित्य पाठकों के गले न उतरने के लिए, विवश था । इसका परिणाम यह रहा कि हिन्दी में वह कहानी, जिसके मूल में कहीं कथातत्व था, जो पाठकों को आकर्षित कर बाँधे रख सकती थी, वह गायब होने लगी । शहरों के मात्र कुछ प्रतिशत लोगों का साहित्य समग्र भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है ? उस पर भी यदि उसके सही अर्थों में 'साहित्य' होने का कोई अर्थ न हो, तब ।

यही सारे कारण थे कि 'नयी कहानी' का आन्दोलन पिछड़ने लगा, उसकी सार्थकता, पाठकों के लिए कम महत्वपूर्ण होने लगी और फिर एक रिक्तता का अहसास हुआ, जिसे भरने का दायित्व निभाया, किसी सीमा तक बंगला या अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य ने ।

प्रश्न : [illegible] बंगला तथा प्रादेशिक साहित्य में ऐसा क्या था जो हिन्दी पाठक को हिन्दी में नहीं मिल पा रहा था ?

उत्तर : पहले बंगला को लें । बंगला साहित्य की एक बड़ी विशेषता रही है, उसकी मूल धारा सदैव जनजीवन से जुड़ी रही है । बंगाल के लोगों का जीवन सही अर्थों में देखना हो तो उसके लिए कहा जा सकता है कि बांग्ला-साहित्य का अध्ययन पर्याप्त है । वहाँ के लोगों के सुख-दुख, उनकी सफलताएँ-विफलताएँ, जीवन संघर्ष उनके साहित्य में बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिबिंबित

हुआ है। साहित्य जब जन-जीवन से जुड़ा रहता है, उसकी प्रासंगिकता बढ़ जाती है, उसे एक नया आयाम मिलता है। उसमें उस समाज का हृदय धड़कने लगता है। यह सारी खूबियाँ और इनके साथ-साथ कथा-तत्व इन सबने ~~कथा~~ बांग्ला साहित्य को पाठक के निकट लाने में सदैव सहायता पहुँचाई है। चूंकि हिन्दी का तत्कालीन कथा-साहित्य पश्चिम के आयातित साहित्य से प्रभावित हो रहा था और अपनी जड़ों से दूर जा रहा था, इसलिए उसके प्रति पाठकों की अभिरुचि वह नहीं रही थी जो रहनी चाहिए थी। फल यह हुआ कि जैसा कि ऊपर कहा गया है, साहित्य जनता से कटने लगा। मात्र पुस्तकों, पत्रिकाओं और कुछ विशेष लोगों तक ही सीमित रह गया। कहने का अर्थ यह है कि हिन्दी का पाठक वर्ग कथा-साहित्य से परहेज करने लगा और तब इस कमी की आपूर्ति आसपास के अनुदित साहित्य से होने लगी।

प्रश्न : आपने अपनी कहानियों में स्त्री-जीवन की अनेक समस्याओं को बड़े आकर्षक ढंग से समेटा है। स्त्री की सामाजिक स्थिति के विषय में क्या कहना चाहेंगी ?

उत्तर : हमारा समाज अतिवादी है। एक ओर नारी को अत्यधिक पूज्या, श्रद्धेय एवं महान माना गया है। इतना महान कि उसे देवत्व के नजदीक स्थापित किया गया। नारी-शक्ति एक विलक्षण शक्ति का पर्याय रही। यह यथार्थ से ऊपर की स्थिति थी, दूसरी ओर अति हुई उसके शोषण की। समाज की सम्यक् दृष्टि के लिए नारी एवं पुरुष दो वर्गों में समन्वय एवं सामंजस्य यदि न होगा तो समाज विघटित होगा ही। अनंतकाल से चला आ रहा यह अंतर कभी-कभी अनेक प्रश्न-चिन्हों को जन्म देता है। नारी मात्र नारी नहीं, मानव जीवन की धुरी भी है, यह सत्य जब ओझल होने लगा तो उससे सामाजिक विसंगतियाँ पैदा हुईं।

यह सच है कि दुर्बल का शोषण होना अनिवार्य है, इस सामाजिक ढांचे में, किन्तु मानव-निर्मित इन यंत्रणाओं को यदि कहीं वाणी मिले तो इससे अधिक सार्थकता किसी भी साहित्य की और क्या होगी ? साहित्यकार सदैव उसी का पक्षधर होता है, जिसके पक्ष में कोई नहीं होता, इसलिए उसे एक साथ अनेक संघर्ष करने होते हैं। साहित्यकार के लिए जाति, धर्म, भाषा, प्रदेश, स्त्री-पुरुष का अन्तर नहीं रहता, जहाँ दुःख है, जहाँ उत्पीड़न, जहाँ [illegible]

लिए यानी अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष नहीं कर सकता, लेखक कहीं उसके संघर्ष का सहभागी बनकर अपने कर्तव्य का पालन करता है। इसके लिए नारी या पुरुष का नहीं, मात्र वेदना का सहभागी होना पर्याप्त है।

प्रश्न : आपका रचनाकार कई बार अपनी भूमि के बिछोह की पीड़ा में भीगा है। अपनी ही भूमि से निर्वासित की यह पीड़ा कहीं कथाकार की ही है या यों कहें आप पात्रों से अभिन्न रूप से जुड़े हैं, जिससे कई कहानियाँ कहानी कम, निजी जीवन का लेखा-जोखा या संस्मरण अधिक लगती हैं, ऐसा क्यों ?

उत्तर : लेखक के लिए भुक्तभोगी होना भी अनिवार्य होता है। मैंने जो जीवन निकट से देखा, जीया है और जिसका प्रभाव मेरी अन्तश्चेतना पर पड़ा है, मेरे लेखन में उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। जिस पर्वतीय अंचल में मैं पैदा हुआ, बढ़ा, वह कहीं किसी रूप में जीवन का सहभागी भी हुआ हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? मेरा जीवन काफी हद तक संघर्षों से भरा रहा है। हर स्तर पर मैंने बहुत कुछ जीया है। मुझे मालूम है उपेक्षा क्या होती है ? अभाव किसे कहते हैं ? संघर्ष का क्या अर्थ है ? शायद ये ही बातें रही होंगी, मेरे लेखन में भी, जिसे आपने आत्मकथा या संस्मरण या आपबीती कहा है। वास्तव में होता यह है कि जब आदमी दूसरों के जीवन-संघर्ष को चित्रित कर रहा होता है, तब कहीं, वह किसी रूप में, अपने ही संघर्षों को मुखरित करने के प्रयास में लगा रहता है। मेरी कई कहानियाँ इन्हीं पृष्ठभूमियों पर हैं। जहाँ लोगों को दिन-भर श्रम करके दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती, जाड़ों के बर्फीले मौसम में तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं होते। नंगे पाँव बर्फ पर चलने की पीड़ा क्या होती है, इसे वही जान सकता है, जिसे इसका अहसास हो। साहित्य कहीं जीवन का ही प्रतिबिंब होता है, किसी रूप में शायद, इसीलिए मन को छूता ही नहीं, मन की अंतहीन गहराई में भी प्रवेश करता है।

प्रश्न : वर्तमान साहित्य की जो स्थिति है — 'हिन्दी कविता के मरण' की बात की जाती है और हिन्दी कहानी के शैलीगत वैविध्यपूर्ण प्रयोगों की, पर कहीं यह लगता है कि कहानीकारों की भीड़ में धीरे-धीरे कहानी भी बेमानी होती जा रही है, इसी प्रयोगधर्मिता के कारण ?

उत्तर : जैसा कि मैंने पहले कहा था कि 'नई कहानी' के आन्दोलन के बाद कथा-साहित्य आम लोगों से कटने-सा लगा था। पाठक पीछे

छूट रहे थे और कहानी की चर्चा का दायरा केवल कुछ पत्रिकाओं या कुछ खास पाठकों तक ही सीमित रह गया था। इसी की चुनौती के रूप में 'सचेतन आन्दोलन' आया, जिसने कहीं यह प्रयास किया कि साहित्य मात्र कुण्ठा, मात्र निराशा, मात्र हताशा, मात्र भ्रम, नहीं कुछ और भी है, यद्यपि यह आन्दोलन कोई बहुत बड़ी शक्ति नहीं था, न ही इसने कोई बहुत बड़ा उदाहरण ही पेश किया, किन्तु 'नई कहानी' का जो विडम्बनामय स्वरूप था, उसे अवश्य क्षीण किया। इसी के साथ-साथ दो धाराएँ और थीं जो समान्तर चल रही थीं। एक थी 'अकहानी' की यानी 'कहानी नहीं' की, जो उससे भी कहीं एक कदम आगे की स्थिति थी। इसका परिणाम यह रहा कि कहानी के नाम पर मात्र कुण्ठा, मात्र हताशा, मात्र विभ्रम और वह भी मात्र ओढ़ी व्यथा का प्रतीक रह गया। यह शायद हिन्दी कहानी के पतन की अन्तिम सीढ़ी थी, चूंकि यह आन्दोलन मात्र भटके हुए कुछ लेखकों का भ्रमजाल था। इसके साथ-साथ जो एक और आन्दोलन चला, वह अवश्य यथार्थ की दिशा में इंगित करने वाला था — वह था आंचलिक कथा, ग्रामीण कथा का। इस दौर में अच्छी कहानियाँ लिखी गयीं, जिनमें आम आदमी का जीवन संघर्ष प्रतिबिंबित हुआ। प्रेमचंद की परंपरा की फिर दुहाई दी जाने लगी और इस आम आदमी से प्रेरित जो आन्दोलन चला, वह था 'समान्तर कहानी' आन्दोलन और इसी के अनेक आयाम प्रस्फुटित हुए विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न रूपों में, मराठी में, 'फोंपड़पट्टी साहित्य' के रूप में यह पनपा। दया पवार, नामदेव ढसाल आदि ने फोंपड़पट्टियों में नारकीय जीवन का बड़ा वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया।

कविता या कहानी के मरने की बात वे लोग करते हैं, जिनका न तो सही अर्थों में कविता से संबंध रहा, न कहानी से। साहित्य की धारा अजस्र होती है, वह अनंत काल तक निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। हाँ, इसमें कभी-कभी कालगत व्यवधान अवश्य आ जाते हैं। न तो कविता मरी है, न कहानी ही, बल्कि जो आस्थाहीन लेखक हैं, यानी जो मात्र फैशन के लिए लिखते हैं, अपने ही भ्रमजाल ग्रस्त, वही इस तरह के उदाहरण और नारे देकर चौंकाने का प्रयास कर सकते हैं। साहित्य मानव जीवन से अलग नहीं है। जब तक धरती पर मनुष्य रहेगा, उसका संघर्ष रहेगा, उसका सुख-दुख, सफलता-विफलता, उसकी आशा-निराशा रहेगी, तब तक साहित्य का संसार श्रीहीन कैसे हो सकता है?

प्रश्न : अंचल या पहाड़ का चित्रण, उसके सामाजिक मूल्यों की विडम्बनाओं और आर्थिक संघर्ष के रंगों में भीगा है। अन्य आंचलिक कथाकारों से आप भिन्न हैं। भाषा का कोई आग्रह नहीं, न संस्कृति के चित्रण का, आप इस संदर्भ में क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : हर लेखक की अपनी एक विशिष्ट सोच और शैली होती है। मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या लिख रहा हूँ, अच्छा या बुरा, इसका निर्णय तो पाठक, आलोचक या समय ही करेगा। लेकिन मेरा इतना प्रयास निरन्तर रहता है कि जो कुछ मैंने देखा, सोचा, जो कुछ जीया उसी को सदा कहानी की परिधि में समेटने का प्रयास किया है। कहानी मात्र कहानी नहीं होती, अपने वक्त का दस्तावेज भी होती है। बिना जीवन के निकट गहरे में जाए, ऐसे पात्रों की सृष्टि नहीं हो सकती, जिनमें संवेदनाशीलता हो, जिनमें पाठक को उनके पात्रों के हृदयों की धड़कन का अहसास हो। जीये हुए साहित्य में ही, जीया यथार्थ समाविष्ट होता है। मैंने फैशन के लिए कभी कुछ लिखने का दुराग्रह नहीं किया, न किसी बात को चामत्कारिक ढंग से प्रस्तुत कर चौंकाने की भी प्रवृत्ति रखी। जो जैसा है, वैसा ही प्रतिबिंबित हो, उसी रूप में, इतना ही प्रयास मेरा रहा। शब्द जब हृदय से निकलता है तो प्रभावहीन नहीं होता, बल्कि अंगारे की तरह जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ ताप और दाह पैदा करता है। मुझे लगता है कि साहित्य के लिए ऋजुता नहीं, सहजता-सरलता चाहिए। बिना इसके साहित्य प्रभावहीन एवं प्रवाहहीन रहता है।

प्रश्न — आपकी रचनाओं के कई भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुए। विदेश-भ्रमण एवं विदेशी साहित्य से भी आप जुड़े रहे। भारतीय लेखन पश्चिम से किन संदर्भों में भिन्न है ?

उत्तर — हर देश के साहित्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। साहित्य का संबंध देश के साथ-साथ वहाँ के जन-जीवन से भी होता है। अफ्रीकी साहित्य में कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अफ्रीकी लोगों के जीवन-संघर्ष की भी झाँकी मिलेगी ही। वहाँ का वातावरण, वहाँ के लोग, उनका सुख-दुख ये सब कहीं, किसी-न-किसी रूप में साहित्य के सूत्रों से सम्बद्ध होते हैं। अफ्रीकी साहित्य या भारतीय साहित्य या कुल मिलाकर तीसरी दुनिया का साहित्य निश्चित ही पश्चिम के साहित्य से कहीं-न-कहीं भिन्नता अवश्य रखेगा। यूरोप या अमेरिकी देशों के पास पर्याप्त संसाधन

हैं। उनकी समस्या है, इतना कुछ है उनके पास कि वे क्या-क्या खाएँ? जबकि आधी से अधिक दुनिया की समस्या है, हम कहाँ से खाएँ? इसलिए उनके पास साधनों का अभाव है। जनसंख्या की वृद्धि, अशिक्षा, आर्थिक अभाव, राजनैतिक, सामाजिक-उत्पीड़न, व्यवस्थापन या जातिगत या धर्मगत नीतियाँ, नाना व्याधियों से ग्रस्त रहने के लिए ये विवश हैं। इसलिए पश्चिम के साहित्य या अन्य देशों के साहित्य में अंतर तो होगा ही। किसी देश के सही साहित्य की एक ही कसौटी है कि उसमें वहाँ की मिट्टी की गंध हो। 154

साहित्य केवल तात्कालिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं रहता। कुछ शाश्वत जीवन एवं मानवमूल्य भी होते हैं, जिनसे साहित्य सही अर्थों में साहित्य बनता है और साहित्य किसी देश या काल की सीमाएँ लाँघकर सार्वजनीन बनता है, कालजयी भी। पश्चिम में आज जो लिखा जा रहा है, उसमें वहाँ के लोगों का संत्रास, उनकी कुंठाएँ, उनकी वर्जनाएँ, उनका बंधनमुक्त सामाजिक जीवन प्रतिबिंबित होता है। अब से बहुत वर्षों पहले तक पश्चिम का अधिकांश साहित्य युद्ध की विभीषिकाओं से आक्रांत रहा। इस दौर में कई लेखक उभरे। हेमिंग्वे, स्टीनबेक, सार्त्र, काफ्का, कामू, अलबर्ट मोराविया, रोमैं रोला, ज्विग, एक लम्बी सूची है साहित्यकारों की। इस में इलिया एहरेनबर्ग, शोलोखोव, सोलजनित्सिन आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी चिंता और चिन्तन के विषय अलग-अलग हैं। इस बीच पश्चिम में मुक्त यौन संबंधों पर आधारित साहित्य भी खूब लिखा गया।

किसी देश को सही अर्थों में समझना है तो उसके साहित्य को पढ़ना सबसे श्रेयस्कर समझा जाता है। भारतीय साहित्य का जहाँ तक संबंध है, इसमें इतना वैविध्य है, इतनी व्यापकता एवं विशालता है कि इसमें एक देश नहीं, ~~अनेक देश उतरीं~~, बल्कि अनेक अनेक देशों का साहित्य समाविष्ट हो गया है। नागालैंड और मणिपुर में जिस तरह का साहित्य है, वह महाराष्ट्र के झोपड़पट्टी या केरल के सागर तट के जीवन पर लिखे गये साहित्य से हर स्तर पर भिन्न है। बंगाल की जो स्थितियाँ हैं, वह कश्मीर या पंजाब या राजस्थान से कहीं मेल नहीं खातीं। इनके साहित्य में भी उतनी ही भिन्नता देखने को मिलती है। इसलिए सवाल पूर्व पश्चिम का नहीं, सवाल अपने अस्तित्व से जूझ रहे मनुष्य के अस्तित्व और अस्मिता का है। इसलिए विविधता का होना अनिवार्य है। और यही विविधता किसी-न-किसी

रूप में इनकी उपलब्धि भी है। कुल मिलाकर अंत में मैं यही कहना चाहूँगा कि भारतीय साहित्य पश्चिमी साहित्य की अपेक्षा अधिक वैविध्य लिए है।

<u>प्रश्न</u> — कहानी के अनेक आन्दोलनों के पश्चात वर्तमान लेखन को किस प्रकार भिन्न मानते हैं ? या कहें, आपके रचनाकार की भावधारा या सृजन-चेतना किन परिवर्तनों को अनुभव करती है ?

<u>उत्तर</u> — कभी भी, किसी भी भाषा में, सही साहित्य मात्र आन्दोलनों से प्रभावित नहीं होता। बल्कि आन्दोलन साहित्य का अनुगमन करते हैं। फैशन या चर्चा में रहने के लाभ उठाने के लिए जो आन्दोलन समय-समय पर होते हैं, वे विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाते। यों परिस्थितियाँ बदलती हैं, अनुभवों के दायरे बढ़ते हैं और सतत् जीवन संघर्षों से दृष्टि में भी परिपक्वता ही नहीं, कहीं पैनापन भी आता है और कभी-कभी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन दीखने लगता है। सच तो यह है कि <u>लिखने का यह भी एक उद्देश्य है</u> कि व्यक्ति अपनी अनुभूति को 'शब्द' दे। मुझे लगता है कि मूलभूत जो मेरा दृष्टिकोण था कि मनुष्य ही सर्वोपरि है, साहित्य समाज से जुड़ा है, इसी नाते व्यक्ति से भी। प्रतिकार या प्रतिरोध, जिसे अंग्रेज़ी में 'प्रोटेस्ट' कह सकते हैं, वह किसी भी लेख के लिए अनिवार्य है। छल-छद्म किसी को किसी लक्ष्य तक कभी नहीं ले जा सकता। निश्छलता, निरीहता और संवेदनशीलता ये ऐसे कोण हैं जो साहित्य की सही साहित्य के रूप में पहचान कराते हैं। ये मान्यताएँ तब भी थीं और अभी भी हैं। हाँ, अब लगने लगा है कि हमारी मानवीय संवेदनाएँ कहीं दिन-प्रतिदिन के आघातों से किंचित् भोथरी हो गयी हैं, इन्हें अधिक सम्प्रेषणीय बनाने के लिए कभी-कभी फेंटेसी भी मुझे अपनी ओर आकृष्ट करती है। साहित्य आत्मा को न छुए, मस्तिष्क को कुछ सोचने के लिए विवश न करे और अन्ततोगत्वा आदमी को आदमी बनाने की दिशा का निर्देशन न करे, तो जो लिखा गया वह साहित्य की कोटि में कैसे आ पाएगा ?

<u>प्रश्न</u> — मूलत: आपका <u>सर्जक मन कवि</u> ही है। प्रारंभ की काव्य-रचना का अब क्या रूप है ? भविष्य में किसी काव्य-संग्रह की भी संभावना है ?

<u>उत्तर</u> — हाँ, प्रारम्भ में प्राय: सभी लेखकों की तरह मैंने भी लेखन काव्य से ही शुरू किया था। तब परिपक्वता भी न थी और लिखने की भी एक अंधी आंधी। लेकिन धीरे-धीरे पता नहीं क्यों मुझे लगने लगा कि मैं कविता की

अपेक्षा कहानी के माध्यम से अपने को अधिक अच्छे ढंग से अभिव्यक्ति दे सकता हूँ और फिर जो कथा-साहित्य का क्रम शुरू हुआ, वह निरन्तर चलता रहा । बीच-बीच में कभी-कभी पता नहीं क्यों, पता नहीं कैसे कविताएँ भी लिखता रहा हूँ। इस बीच अनेक कविताएँ लिखीं और १६८१ में एक कविता-संग्रह भी छपा 'अग्निसम्भव' नाम से । आज भी कभी-कभी कविताएँ लिखता हूँ,मात्र लिखने के लिए । कवि के रूप में मुझे जाना जाए यानी कवि के रूप में मेरी पहचान बने, ऐसा आग्रह कभी नहीं रहा । इसलिए जो लिखा, उसे छपाया कम और छिपाया ज्यादा ।

प्रश्न — ऐसा लगता है कि आप अपनी कहानियों में करुणा और वेदना को मुख्य अन्तर्सूत्र मानकर चलते हैं, जिससे चरमावस्था में नारी का शारीरिक शोषण अवश्यंभावी हो जाता है । ऐसा क्यों ?

उत्तर — जो अर्थ प्रधान व्यवस्था इस राजनीतिक वातावरण ने हमें दी है, जहाँ मानव-मूल्य पीछे और धन का प्रभाव अधिक है, वहाँ अनेक विषमताओं के अर्थ स्वयं खुल जाते हैं । भौतिकवादी व्यवस्था में न्याय के लिए, मानवीय संवेदनाओं के लिए बहुत कम स्थान रह जाता है । इसीलिए इसका अंत होता है शोषण से । वह शोषण किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार का हो सकता है । एक बात अहम यह है कि शोषण सर्वदा दुर्बल का ही होता है । इस सामाजिक संरचना में नारी कहीं अधिक दुर्बल दीखती है, इसलिए अस्तित्व के संघर्ष में उसी की पराजय की संभावना अधिक रहती है ।

प्रश्न — आपकी कहानियों में यही शोषण का भाव मुख्य आधार बना है । जबकि नारी शोषण के अन्य रूप भी हैं -- जैसे मानसिक शोषण, अधिकार-हीनता का शोषण, संबंधविहीनता का शोषण आदि । क्या आप बताएंगे कि उन पर आपकी दृष्टि क्यों नहीं गयी ?

उत्तर — यह बात नहीं । किसी हद तक यह सच नहीं लगता । मेरी अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें शारीरिक ही नहीं, मानसिक या श्रम का शोषण भी होता है । जैसे : 'चील', 'बरस बीत गया', 'बूँद पानी', 'तरपन' आदि ।

प्रश्न — आम आदमी और आम आदमी में भी निम्न या शोषित वर्ग की पीड़ा, और जीवनगत विसंगतियाँ आपकी कहानियों का मूल विषय है । पश्चिम का फैशन, मध्ययुगीय ओढ़ी हुई संवेदनाएँ नहीं हैं । इस दृष्टि से आप सर्वथा अलग रचनाकार लगते हैं और लगता है कि साहित्य में प्रेमचंद की युग-[illegible] है । [illegible]

उत्तर– संवेदना यानी ओढ़ी हुई संवेदना कभी भी प्रभावित नहीं कर सकती। साहित्य तो वह हो ही नहीं सकती। व्यक्ति के अनुभव या अनुभूतियाँ जब शब्दों का आकार लेते हैं तब वे जीये हुए यथार्थ के निकट होते हैं और उनमें एक मूलभूत संवेदना, एक नैतिक ईमानदारी होती है, वे कभी अर्थहीन नहीं होतीं। पश्चिम का यथार्थ एक भारतीय कस्बे या शहर में रहने वाले लेखक की रचनाओं में कैसे आ सकता है और यदि आता है तो वह एक मात्र फैशन ही होगा, साहित्य नहीं। जैसा कि मैंने अनेक बार कहा है कि साहित्य के पीछे कोई जाने या अनजाने, चाहे या अनचाहे एक उद्देश्य भी होता है, वह उद्देश्य आत्माजन्य अधिक, मस्तिष्कजन्य कम। लेखक के जीने का, यानी कि मरने का यदि कोई मिशन या उद्देश्य नहीं तो वह लेखक की श्रेणी में कैसे आ सकता है? प्रेमचंद की रचनाओं का वातावरण कहीं भारत के गाँवों का वातावरण है। कोटि-कोटि ग्रामीणों का शोषण, उनका सतत् संघर्ष एक चिरन्तन सत्य है। भारत शहरों में ही नहीं, गाँवों में रहता है। ८० प्रतिशत लोग, उनका जीवन उपेक्षित किया जा सकता है? मैंने कहा है न कि मैं मूलतः गाँवों से जुड़ा हूँ। गाँवों में आज भी विषमताएं हैं, आज भी जो शोषणयुक्त व्यवस्था है, यह कैसे हो सकता है कि वह उद्वेलित न करे? प्रेमचंद मात्र एक लेखक ही नहीं, एक परम्परा भी हैं। जो भी लेखक आम आदमी से जुड़ेगा, वह किसी-न-किसी रूप में प्रेमचंद की परंपरा से भी जुड़ा हुआ अवश्य होगा।

प्रश्न: आठवें-नवें दशक के संदर्भ में हिन्दी कहानी की उपलब्धियों के विषय में क्या कहना चाहेंगे?

उत्तर: यदि कहानी को कालखण्ड से न भी जोड़ें, तब भी कहानियाँ तो निरन्तर लिखी जाती ही रही हैं और आगे भी लिखी जाएँगी। इस दौर में भी ऐसी कहानियाँ कुछ कम नहीं हैं, जिन्हें रेखांकित किया जा सकता है, जिनमें विविधता है, वैविध्य भी है। संत्रास की त्रासदी के इस दौर में भले ही लेखकों का व्यक्तित्व अधिक मुखर बनकर न उभरा हो, किन्तु कुल मिलाकर हिन्दी कहानी का इतिहास निरन्तर आगे बढ़ रहा है। इधर बहुत कुछ ऐसा लिखा जा रहा है, जो नई-नई सम्भावनाओं की ओर इंगित करता है।

प्रश्न – पहाड़ी जीवन और परिवेश के किन पक्षों के आप कायल हैं ? और उसमें ऐसा क्या है, जिसे आप भुला नहीं सके ?

उत्तर – एक उम्र होती है, जब कच्ची मिट्टी की तरह कुछ चिह्न अनायास अंकित हो जाते हैं। वे कहीं स्थायी रूप ले लेते हैं। वे ही अनुभव और अनुभूतियाँ कहीं लेखकीय संवेदनाओं के साथ-साथ निरन्तर जुड़ी रहती हैं।

पर्वतीय जनजीवन में विषमताएं हैं, वैविध्य है, संघर्ष भी कम नहीं। किन्तु इनके साथ-साथ मानव-मन की निश्छलता, निरीहता, उदारता, उदात्तता, सहिष्णुता आदि मानवीय गुण भी कम नहीं। भले ही प्रकृति में उन्हें अधिक संपन्नता न दी हो, किन्तु आन्तरिक उदारता अवश्य प्रदान की है। वहां का भोला-भाला जीवन, वहाँ की निर्व्याज आत्मीयता, अपनापन कहीं आज भी प्रेरित करता है। ऐसा नहीं है कि सांसारिकता से वहाँ का वातावरण भी अब अछूता है, किन्तु एक वातावरणजन्य सहजता आज भी उपलब्ध है। मनुष्य कुछ भी कहे, कुछ भी करे, अंत में उसका प्रवाह होता है सत्य के धरातल की ओर। जो सहज नहीं है, वह कैसे ग्राह्य हो सकता है ?

प्रश्न – अंचल की पीड़ा अभिव्यक्ति पाकर भी कहीं कथाकार की स्मृति का अखण्ड अंश है, किन्तु पहाड़ी अंचल के त्रास्द जीवन से इतर वहां के सांस्कृतिक पहलू कहीं सीमित रह गए हैं, ऐसा क्यों ? 'तर्पण' जैसी रीति-रिवाजों से जूझती संवेदना बहुत कम मिलती है ?

उत्तर – लेखक का संबंध सुख की अपेक्षा कहीं मन की व्यथा से ज्यादा जुड़ा होता है। लेखक हमेशा उन्हीं की लड़ाई लड़ता है, जो अपनी लड़ाई नहीं लड़ सकते। उसे उनका किंचित् सुख इतना आकर्षित नहीं करता, जितना कि पहाड़-सा दुःख। इस लिए यदि सुख का उजला पक्ष अधिक उजागर न हो पाया तो इसका यह भी एक कारण हो सकता है।

प्रश्न – वर्तमान कहानी एवं उसके भविष्य के संदर्भ में आप क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर – कहानी ही क्यों, समस्त साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। मैं तो आशावादी हूँ। हर घटाटोप अँधियारे में भी मुझे दूर कहीं कुछ चमकने का अहसास होता है। हम जीवित ही नहीं रह पाते, यदि इस सत्य को आत्मसात न कर पाते। यह ठीक है कि इतिहास के दौर में कई उतार-

चढ़ाव आते हैं, लेकिन अच्छे विचारों, अच्छे पात्रों और अंत में अच्छे मनुष्य की अन्तिम विजय के बारे में मेरे मन में कोई आशंका नहीं है । अभी लेखन और परिपक्व होगा । इसमें अभी और धार आएगी और वह कलम और तलवार दोनों की भूमिकाएं साथ-साथ पाने में समर्थ होगा ।

प्रश्न — शिल्प के स्तर पर हिन्दी कहानी ने तमाम रूढ़ियों को तोड़ा है - इस संदर्भ में आप क्या सोचते हैं ?

उत्तर - शिल्प कोई अलग वस्तु नहीं है । जो हम कहना चाहते हैं, कितने प्रभावशाली ढंग से और कैसे कह सकते हैं, यानी अपनी बात पाठक तक कितनी गहराई से पहुँचा सकते हैं, इसी का नाम शिल्प है । शिल्प आयातित नहीं होता, बल्कि शब्दों से पैदा होता है । इसलिए शिल्प को कथ्य से अलग करके आँका नहीं जा सकता । चेखव का भी एक शिल्प था, जिसे सपाट-बयानी का शिल्प कह सकते हैं । जिसमें नाटकीयता नहीं, सहजता है , क्योंकि उसमें जीवन का यथार्थ है और उसे सहज ढंग से बिना किसी कारीगरी के प्रस्तुत किया जा सकता है । इसलिए उसका अपना भी एक सौन्दर्य है । ओ' हेनरी की कहानियाँ नाटकीयता से शुरू होकर नाटकीयता में ही समाप्त होती हैं । हमें लगता है कि शिल्प की दृष्टि से परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ अभी और बदलाव आएगा ।

प्रश्न- आठवें दशक व उसके बाद के कथाकार हिमांशु जोशी तथा पूर्व के कथाकार जोशी में आप क्या अंतर अनुभव करते हैं ?

उत्तर- साहित्य, साहित्यकार के व्यक्तित्व से अधिक दूर नहीं होता । जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ। समय के साथ-साथ विचारों में भी किंचित परिवर्तन आना स्वाभाविक होता है । लगता है जो कल का यथार्थ था, वह अपने समय का सच था , आज का अपने समय का सच है, और आने वाले कल का, कल का सच होगा । एक बात जिसमें मैं बहुत गहराई से अनुभव करता हूँ कि समय के साथ-साथ मुझ में संभवत: पराजित होने या झुकने की प्रवृत्ति या अकारण सहज होने की भावना नहीं आई । मुझे लगता है कि ज्यों-ज्यों संघर्ष बढ़ रहा है त्यों-त्यों एक भावना भी पनप रही है— प्रतिरोध और प्रतिकार की, जो बीते हुए कल की अपेक्षा आज कहीं अधिक तेज अनुभव होती है । []

मेरी रचना प्रक्रिया

आठवाँ स्वर

हिमांशु जोशी

एक गरीब गाँव—पर्वतीय !

एक गरीब घर—टूटा-फूटा !

घर के भीतर अंधियारे में एक रुग्ण व्यक्ति लेटा है। पास ही जवान बेटी खड़ी है—हताश मुद्रा में।

"मधुलि, डाकिया आज भी नहीं आया, बेटा···?"

"आया था बाबा, पर चला गया।"

"क्या हमारी डाक नहीं लाया ?"

"नहीं। मैंने पूछा तो कहता था···।"

"क्या कहता था, बेटा···?" एक गहरी उसाँस और फिर टूटा-टूटा-सा भर्राया स्वर प्रस्फुटित होता है, "इ···त्ता पुराना छय रोग···अब कित्ती और परतीक्षा करूँ···अस्पताल में जब अब तक जगं नहीं मिली बेटे, तो आगे क्या मिलेगी···?"

"ऐसा नहीं, बाबा···जगं जरूर मिलेगी···परमेसर के राज में देर है, अंधेर नहीं···वह भी कहता था···।"

"अरे, उसके कहे क्या होता है ? जब ऊपर वाला कहे तब न···।"

और हाँ, अंत में जब एक दिन ऊपर वाले ने कहीं और भवाली सेनीटोरियम में स्थान मिलने की सूचना आयी, तब तक उसे मरे पूरा एक साल बीत चुका था।

यह मेरी पहली कहानी 'बुझे दीप' का अंतिम भाग है जो एक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

वर्ष था—1954 !

तब से लिखने का जो क्रम आरंभ हुआ, वह आगे चलता ही रहा निरंतर।

यों यह मेरी लिखी पहली कहानी नहीं थी। जब नैनीताल में ग्यारहवीं का छात्र था, तभी कहानी की ओर सहसा आकर्षण बढ़ा। इससे पहले कविताओं

SHIVAJI UNIVERSITY KOLHAPUR

के प्रति भी विशेष झुकाव रहा। झुकाव क्या, एक तरह का पागलपन ही कहूँ तो अधिक न्यायसंगत होगा। खेलते, घूमते, पढ़ते, खाते, सोते—हर समय कविता ही कविता। कक्षा में अध्यापक पढ़ा रहे होते और मैं अपनी अगली सीट छोड़कर सबसे पीछे बैठा तुकबंदियों में खोया रहता।

अर्थशास्त्र के अध्यापक जमील अहमद एक दिन कक्षा में बोले, "जब मैं मालथुस की थ्योरी समझा रहा था, तुम सब स्टूडेंट्स मेरा मुंह देख रहे थे···।" वह अब मेरी ओर अंगुली से संकेत करते हैं, "देखिए, एक यही स्टूडेंट था जिसने गरदन नहीं उठाई···चुपचाप नोट्स लेता रहा···।"

जमील साहब के इस कथन पर मेरे पास बैठे दो-एक छात्र हँस पड़े तो जमील साहब ताव खा गए। बेअदबी के अभियोग में उन्होंने उन्हें अपनी-अपनी सीट पर खड़ा कर दिया।

पूरे चार-पांच साल तक कविता का यह पागलपन बुरी तरह सवार रहा, किंतु तभी न जाने क्या हुआ, मैं दिन-दिन-भर बैठा लम्बी-लम्बी कहानियां लिखने लगा।

एक बार लिखता, फिर सुधार करता। फिर दुबारा, तिबारा—जब तक संतोष न होता, लिखता चला जाता।

दो-तीन बार लिखने की यह आदत जो तब पड़ी थी, आज भी उसी तरह चल रही है। एक भी शब्द व्यर्थ का रह जाए, यह मेरा मन स्वीकार नहीं करता। इसलिए सुधार की सतत प्रक्रिया चलती रहती है।

हाँ, कहानियां तब चुपचाप लिख तो लेता, लेकिन समस्या थी उन्हें सुनाने की। नैनीताल से कोई पत्रिका तो प्रकाशित होती नहीं थी जिसमें छपने भेजता। अतः लिख कर, सहेज कर, अपने पास रख लेता, किसी धैर्यवान, साहित्य-पारखी श्रोता की प्रतीक्षा में।

कालेज में तो नहीं, हाँ, छुट्टियों में अपने घर टनकपुर आने पर अवश्य एक-दो 'साहित्य-मर्मज्ञ' टकरा पड़ते। तब बड़े धैर्य के साथ उन्हें सुनाने का लोभ संवरण न कर पाता। अन्त में कहानी जब समाप्त होती तो मैं उनके चेहरे की ओर परखने के उद्देश्य से देखता—अपनी तथाकथित पारखी दृष्टि से।

सचमुच तब कितनी प्रसन्नता होती जब उनकी आकृति में एक प्रकार का सन्तोष का भाव दीखता। तुष्टि का। मुझे लगता—मेरा प्रयास निरर्थक नहीं रहा।

यों हर लेखक के भीतर कहीं निष्पक्ष आलोचक भी रहता है, जो बिना किसी पक्षपात के रचना के बारे में सब सच-सच बतला देता है। मुझे लगता है इस लम्बे सफर में यही मेरा अभिन्न मित्र, अभिन्न समालोचक, आत्मीय पथप्रदर्शक

रहा है जिसने कभी मुझे छला नहीं। जो भी कहा, सदैव सच ही कहा।

पहली कहानी जब छपी तो मेरी प्रसन्नता का पारावार न था। लगता था मुझे अपनी मंजिल तक पहुँचने का मार्ग कहीं मिल रहा है। कुछ परिचितों ने उसे पसन्द भी किया। सराहना के दो बोल भी उपहार में बोल दिए। किंतु मुझे आघात लगा उस दिन जब कई महीने बाद मैं एक बार अपने घर गया—टनकपुर। शर्माजी थे एक। बनारस विश्वविद्यालय के छात्र रह चुके थे। पढ़े-लिखे सज्जन। परन्तु उदरपूर्ति के लिए मोटर पार्ट्स का धन्धा चलाते थे। उनसे मिला तो सहसा उन्होंने कहानी का जिक्र छेड़ दिया। बोले, "आपकी कहानी पढ़कर मेरी रुग्ण पत्नी ने जीने की आस छोड़ दी है। वह कहती है कि मेरे साथ सब घटित होगा जो उस कहानी के नायक के साथ हुआ था।"

मैंने तो अब तक यही सुना-गुना था कि साहित्य जीने की प्रेरणा देता है। मेरी कहानी किसी को मरने के लिए भी प्रेरित कर सकती है, यह सोचना ही मेरे लिए कम आश्चर्य की बात न थी। मैंने उन्हें विस्तार से समझाया कि कहानी इसीलिए तो कहानी कहलाती है कि वह सच नहीं होती। इसीलिए तो उसे सच मानना भारी भ्रम होगा। भूल भी।

मैं कहने को तो बहुत कुछ कह गया, भ्रम-निवारण के लिए, परन्तु मेरा मन कहीं बार-बार मुझे इसके लिए कचोटता रहा कि कहानी कहानी ही नहीं, कहीं कुछ सच भी होती है—शीशे की तरह सच। इसलिए वह सच न होते हुए भी सच से अधिक प्रभावशाली होती है। उसके आईने में व्यक्ति या समाज का ही नहीं, पूरे युग का प्रतिबिंब भी देखा जा सकता है, यदि कहानी सही अर्थों में कहानी हो तो।

उनकी पत्नी पर मेरी बातों का कितना प्रभाव पड़ा, क्या हुआ उनका, इसका तो मुझे पता न चला। हाँ, मेरे मन में कहीं यह बात अवश्य घर कर गई कि भविष्य में मुझे ऐसा लिखने के प्रति सचेत रहना चाहिए जो व्यक्ति को घोर निराशा के अन्धकार में धकेल दिए जाने के लिए विवश करे! मृत्यु भी एक सत्य है, परन्तु यह जीवन से बड़ा सत्य नहीं।

कहानी के कथानकों के लिए मुझे कभी भटकने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। सहज भाव से कथानक पास आकर मुझे जगाते रहे, कुछ लिखने के लिए गुदगुदाते ही नहीं, झकझोरने के लिए भी। यही विवशता कहानी के रूप में अनायास कुछ गढ़ने के लिए प्रेरित करती रही।

साहित्य-सृजन का सम्बन्ध सायास से कम, अनायास से अधिक होता है। अनायास जो लिखा जाता है, वही कहीं मन के अधिक निकट होता है। बिना

अपने मन के सामीप्य के कोई भी कृति कभी किसी दूसरे के मन को प्रभावित नहीं कर पाती—सच्चे अर्थों में।

काली कुमाऊँ का हमारा क्षेत्र क्रांतिकारियों का इलाका माना जाता था। इसलिए अंग्रेजों के शासनकाल में उसे उपेक्षाओं का शिकार होना पड़ा। विकास के कोई भी उल्लेखनीय कार्य अंग्रेजों ने वहाँ होने नहीं दिए। जिसका परिणाम यह रहा कि वहाँ स्वावलंबन की प्रवृत्ति अधिक पनपी। स्वाधीनता-प्राप्ति के कुछ ही समय पश्चात वहाँ के निवासियों ने अपने श्रमदान से लगभग चौदह मील लंबा मोटर-मार्ग तैयार कर दिया। पहाड़ी प्रदेशों में मार्ग-निर्माण का कार्य कितना कठिन होता है, उसकी कल्पना भी आसान नहीं।

सरकार अब अपनी थी। अतः कहा जाता है कि उसके निर्माण के लिए पुरस्कार के रूप में एक बहुत बड़ी राशि वहाँ के लोगों को अपने कल्याण-कार्यों के लिए प्रदान की गई। बाद में कुछ 'गांधीवादी' तथाकथित नेताओं ने उस राशि का रचनात्मक कार्यों के नाम पर जो 'सदुपयोग' किया, उससे मेरा मन अर्से तक आहत रहा। उससे त्राण तभी मिल पाया, जब मैंने 'आदमी जमाने का'' कहानी के माध्यम से उसे व्यक्त कर, अपने को उस सन्ताप से मुक्त किया।

इसके प्रकाशन के पश्चात अपने ही कुछ लोगों के कोप का शिकार भी बनना पड़ा मुझे, परन्तु मुझ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैंने न वह कहानी किसी को प्रसन्न करने के लिए लिखी थी, न अप्रसन्न। मन का भार हल्का करने के लिए मेरे पास इससे सच्चा, इससे सीधा और माध्यम भी क्या था।

इसी तरह 'कोई एक मसीहा', 'फासला' आदि अनेक कहानियों ने आकार लिया।

कभी-कभी कोई घटना सहसा मन के किसी कोने में गड़ जाती है और टूटे काँटे की अनी की तरह निरन्तर कसकती रहती है। यही कसक कभी किसी बड़ी परेशानी का कारण भी बन जाती है—निरन्तर बेचैनी का। और वही कालांतर में शब्दों के आकार में व्यक्त होती है—अपनी एक अलग पहचान के साथ।

वस्तुतः जितना हमारे चेतन मन में होता है, उससे कहीं अधिक होता है अवचेतन में—स्मृतियों का, अनुभवों का, अनुभूतियों का एक अक्षय भंडार। जब हम तन्मय होकर, डूबकर लिखने लगते हैं, तो ताने-बाने की तरह वे तन्तु परस्पर जुड़ते चले जाते हैं और एक नयी शक्ल में हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। अपने लिखे हुए को कई बार बाद में हम स्वयं पढ़ते हैं तो अचरज हुए बिना नहीं रहता—अरे, यह सब मुझसे कैसे लिखा गया ? मैंने तो ऐसा सोचा नहीं था। पर हाँ, वास्तव में ऐसा ही कुछ लिखने का मन में था तो सही।

जिस रचना में अनुभूतियों की गहराई जितनी अधिक होगी, जितनी अधिक प्रामाणिक होंगी अनुभूतियाँ, वह पाठक को उतनी ही गहराई तक छुएँगी।

जो जिया जाता है, वह कहीं लेखन का हिस्सा भी बनता चला जाता है। संस्कार, संवेदनाएँ, सबका अपना-अपना योगदान रहता है। मेरा जन्म उस परिवार में हुआ, जो स्वाधीनता-संग्राम से भी जुड़ा रहा। इसलिए 'सु-राज', 'जलते हुए डैने' आदि रचनाओं में वह रंग भी कहीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष झलकता दीखता है।

आपातकाल में हुए अत्याचारों से आक्रांत होकर जब 'जलते हुए डैने' लिख रहा था तो अवचेतन में कहीं हमारे क्षेत्र के प्रखर स्वाधीनता सेनानी शहीद विक्टर मोहन जोशी का चित्र भी रहा होगा जिससे सेमुअल चेतराम नामक चरित्र का आविर्भाव हुआ। अंग्रेजों द्वारा बरसाए गए डंडों से जिनका सिर फट गया था और जिन्होंने 'वंदेमातरम्' का उच्चारण करते हुए मृत्यु का वरण किया था। अतीत की अनेक अनुभूतियाँ इसी तरह 'सु-राज' में भी प्रस्फुटित हुईं।

यह आवश्यक नहीं कि एक अनुभव, एक अनुभूति का एक ही रचना में समावेश हो। कई बार लिखते-लिखते, पता नहीं कहाँ-कहाँ के अनुभव सहज भाव से जुड़ते हुए एकाकार होते चले जाते है। और नये रूप, नये रंग के साथ अपनी पहचान बनाने में सफल होते हैं। 'अन्ततः' कहानी के साथ कुछ ऐसा ही हुआ। एक निश्छल, निर्धन किशोर की आकांक्षाएँ कैसे जन्म लेती हैं, कैसे पल्लवित होती हैं और अन्त में कैसे मुरझा जाती हैं?

जो भले हैं, भोले हैं—अनादि काल से किस तरह वे शोषण के शिकार बन रहे हैं, इसकी भी एक झलक है। दुनिया का सबसे बड़ा व्यंग्य सबसे बड़ी वेदना का प्रतिरूप होगा। बिरजू भी इन्हीं विडम्बनाओं का शिकार है। हास्य के मर्म में छिपी उसकी व्यथा एक प्रश्नचिह्न बन कर प्रकट हो आती है।

सरलता, सहजता, स्वाभाविकता—किसी भी रचना के सबसे बड़े गुण होते है। जीवन का यथार्थ जितने सहज शब्दों में अभिव्यक्त होगा, उतना ही मानव मन को प्रभावित करेगा। कबीर का यह गुण किसी भी सफल साहित्य का प्रथम लक्षण है। कथा के क्षेत्र में इस दिशा में चेखव का लेखन मुझे एक उदाहरण लगता है। चाहे वह 'कुत्ते वाली महिला' हो या वह दुखिया जो अपनी व्यथा अपने घोड़े को सुनाता है। ईसप या पौराणिक कथाओं या जातक कथाओं के बाद कई लेखकों में कहानी कहने को यह कला आसानी से देखी जा सकती है।

इस 'सहज शैली' का भी किसी रूप में मैं कायल रहा हूँ। 'स्वभाव', 'अभाव', 'किनारे के लोग', 'रथचक्र'—अनेक कहानियाँ हैं जिनमें कहीं कोई चमत्कार नहीं है, न कोई चौंकानेवाला तत्त्व ही। सरलता से एक बात आरम्भ

होकर उसी सरलता के साथ समाप्त हो जाती है। कहीं कोई बनावट या बुनावट नहीं।

कलाहीनता भी अपने में कला हो सकती है। मैं नहीं जानता इस दृष्टि से मुझे कितनी सफलता मिली है। हां, यह तो किसी कलाकार की कला की अन्तिम परिणति हो सकती है। इसके लिए अभी और न जाने कितनी मंजिलें तय करनी होंगी। लेखन का सफर तो अन्तहीन होता है और जहां तक मैं अपने बारे में सोचता हूं—अभी यात्रा आरम्भ ही कहां हुई है। 'मनुष्य चिह्न' में भी कुछ ऐसे ही प्रश्न हैं। 'बरस बीत गया', 'दंशित', 'छोटी इ', 'रथचक्र' को भी इस क्रम में स्थान दिया जा सकता है।

कहानी आंदोलनों के कई दौर आए। उन्होंने कुछ-कुछ प्रभावित भी किया। परन्तु यह प्रभाव सदैव सतही रहा—झोंका आया और चला गया। क्योंकि उन आंदोलनों का सम्बन्ध किन्हीं सतत, सनातन मूल्यों से नहीं, बल्कि कहा जा सकता है साहित्यिकता से अधिक सतही व्यावसायिकता से रहा। हां, खींच-खींच कर कुछ लोगों का कद अवश्य बढ़ गया, परन्तु उनका साहित्य वहीं पर स्थिर रहा जहां था। बल्कि सच कहा जाए तो इन आंदोलनों ने जहां उनका बाह्य आकार विस्तृत किया, वहां आंतरिक संकुचित। जिसका परिणाम यह रहा कि बाहर से लम्बे-चौड़े दिखने के बावजूद भीतर से वे कहीं और बौने हो गए।

साहित्य साधना के लिए सच्चाई चाहिए, मूलभूत ईमानदारी भी। मानवीय संवेदनाएं उन्हें गहराई ही प्रदान नहीं करतीं, एक ऊंचाई और विस्तृत विस्तार भी। व्यावसायिकता की इस दौड़ ने लगता है साहित्यकार का दायरा सीमित कर दिया है। बहुत-बहुत सीमित !

साहित्य का उद्भव आंदोलनों से नहीं, आंतरिक उद्वेगों से होता है। उसके लिए बाह्य प्रभाव से अधिक भीतरी चिंतन चाहिए—आत्म-मन्थन। आयातित संस्कृति के युग में बाह्य साहित्यिक आंदोलनों के आत्मस्वीकार ने निःसन्देह अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। वास्तव में काल के प्रवाह में वही टिक सकता है जिसकी जड़ें सुदृढ़ हों, बाहर की अपेक्षा भीतर गहरी हों।

यों समय के साथ-साथ शैली भी बदलती है, भाषा के संस्कार भी। किंतु यह परिवर्तन सहज होता है—सायास नहीं। अनायास। आज के औद्योगिक युग में, जहां सर्वत्र व्यावसायिकता का बोलबाला है, मानवीय सम्वेदनाएं भोथरी हो गई हैं। उन्हें सम्वेदनशील बनाने के लिए साधारण उपक्रम की नहीं, विद्युत-प्रवाह की, जिन्हें इलेक्ट्रिक शॉक भी कह सकते हैं, आवश्यकता है। शायद इसी से स्वतः 'फंतासी' का आविर्भाव हुआ हो। जब हम गहरे आघात में होते हैं या अचरज में—शब्द की सामर्थ्य जैसे चुक जाती है और कुल मिलाकर एक चीख की शक्ल

में हमारी अभिव्यक्ति होती है। कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति साहित्य-सृजन में भी होती है।

मेरी कहानियों, 'आक्षांश' या 'जो घटित हुआ' आदि में, कुछ ऐसा ही लगता है मुझे। वे कितनी सफल रहीं, कितनी असफल, इसका निर्णय तो प्रबुद्ध पाठकों पर है। हां, मेरा विनम्र प्रयास अवश्य रहा, बिना किसी प्रवाह के। मालूम नहीं वे कितना प्रभाव छोड़ पाईं।

पर्वतीय क्षेत्र में मेरा जन्म हुआ—हिमालय के सुदूर इलाके में। जहां प्रकृति-प्रदत्त सम्पन्नता थी तो व्यवस्था द्वारा दी गई आर्थिक विपन्नता भी। सुख से अधिक दुख, एक सतत संघर्ष। दो जून रोटी जो जुटा लेते थे, उनसे कहीं अधिक संख्या में थे वे लोग जिनके लिए दो टुकड़े रोटी जुटा पाना एक विकट समस्या थी। मैंने उन किसानों को भी निकट से देखा, जो दो नाली (पहाड़ी पैमाना) अनाज बीज के रूप में बोते थे और महीनों तक मेहनत करने के पश्चात इतना भी फसल के रूप में बटोर पाने में सफल न होते थे। श्रम की अपनी महत्ता होती है, परन्तु यहां तो श्रम-ही-श्रम था—मा फलेषु कदाचन!

पुरुषों से अधिक कहीं अधिक दायित्व था घर की महिलाओं पर। सुबह मुंह-अंधेरे उठना। दूर झरने या बावड़ी से बर्फ या पाले पर नंगे पांव चलकर पानी भर कर लाना। दूध दुहना। सुबह रूखा-सूखा कुछ तैयार करना। जलाने के लिए लकड़ी काटने या घास लाने दूर जंगल जाना। वहां से आकर चूल्हा-चौका करना। दिन में फिर खेतों का काम। अंधेरे में शाम को फिर घर लौटना। ढोर-डंगरों की सेवा। फिर रात का चूल्हा। इसके बीच जरूरत पड़ने पर चक्की पीसना, चावल कूटना आदि-आदि।

इस आदि-आदि की दिनचर्या में पिसती पर्वतीय नारी की यन्त्रणा।

मेरी आंचलिक पृष्ठभूमि पर लिखी कहानियों में यह असह्य-अमानवीय वेदना भी कहीं-कहीं व्यक्त हुई है। मैंने अपने शैशव में, अपने चारों ओर ऐसे अनेक पात्रों को जूझते देखा है। इतनी अन्तहीन यन्त्रणाओं के पश्चात भी पति की प्रतारणा या सास की उपेक्षा। उस पर भी कई बार भरपेट भोजन नहीं, न तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र ही। छोटे-छोटे भूखे बच्चों का सतत रुदन।

करुणा की यह प्रतिमूर्ति! दर्द की यह तसवीर! आज भी जब कभी मेरे विचारों में उभरकर प्रतिबिंबित होती है तो अनायास कांप उठता हूं। गुड़ की एक नन्ही-सी गीली डली ही जिनके लिए दुर्लभ मिष्टान्न का प्रतीक हो। भरपेट महुवे की रूखी काली रोटी ही, नवरस भोजन का पर्याय। उनके दुखों का कहां पारावार!

मुझे याद है बचपन की वह घटना। अपने घर के आंगन से मैं गुजर रहा

SHIVAJI UNIVERSITY LIBRARY KOLHAPUR

था। मेरी इजा (माँ) के पास हमारे दर्जी की पत्नी, यानी किसना की इजा, बैठी बातें कर रही थी। उसी के पास थी हमारे कस्बे के पास ही मांदरे गाँव में रहने वाली वृद्धा लोहारिन।

"हमारे किसना ने आज भात नहीं खाया।" किसना की इजा कह रही थी और जाते-जाते मैं सुन रहा था।

"क्या कहा ?" इस बार लोहारिन का अचरज भरा स्वर था, "क्या सच-मुच किसना ने भात नहीं खाया ?" उसका झुर्रियों से घिरा पीला मुंह खुल आया था। वह विस्मय-भरी आंखों से देख रही थी—किसना की इजा की ओर।

ऐसा भी कहीं हो सकता है कि कोई भात जैसी चीज न खाए। वृद्धा को सच नहीं लग रहा था।

इससे बड़ा अभाव और क्या होता है।

मेरे बाल-मन में ऐसे कितने ही अतीत के चित्र आज भी जीवित हैं जो मुझे झकझोरते रहते हैं। उनका दुख कब मेरा अपना बन गया, कब मैं उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया, मुझे नहीं मालूम।

आज भी वे मेरे वैसे ही आत्मीय हैं। आज भी वे मेरा हाथ पकड़ मुझसे लिखवाते हैं। अपने अन्तर के भावों को मेरे पास आकर चुपचाप अनायास व्यक्त कर जाते हैं।

'तरपन' कहानी हो या 'अन्तराल', मैंने इन्हें इतने निकट से महसूस किया है कि लिखते-लिखते वे मात्र पात्र नहीं, जीवित प्रतिवेशी लगे हैं, या आत्मीय स्वजन। मुझे लगता रहा जैसे मैं अपने ही बारे में लिखता रहा हूं।

मेरा जीवन अनेक संघर्षों से गुजरा है। उपेक्षाएं भी कम नहीं मिलीं। शायद इन संपूर्ण स्थितियों-परिस्थितियों ने मुझे वह दृष्टि दी जिससे मैं समाज के शोषितों-दलितों-उपेक्षितों के दुख-दर्द को किंचित आत्मसात् कर सका। जब मैं उनकी व्यथा को वाणी देने का प्रयास करता हूं तो मुझे लगता है जैसे मैं अपने ही दुख-दर्द का इतिहास लिख रहा हूं।

जोस्यूड़ा के गांव पैदा हुआ। खेतीखान तथा टनकपुर के कस्बों में शैशव बीता। नैनीताल नगर में पढ़ा। जीवन का अधिकांश भाग दिल्ली जैसे महानगर की आपाधापी में व्यतीत हुआ। इसलिए मात्र पर्वतीय जीवन पर ही नहीं, मैंने कस्बाई जीवन पर, नगरों, महानगरों के अमानवीय, अराजक वातावरण पर भी लिखने का प्रयास किया है। 'किसी एक शहर में' तथा अन्य कहानियों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

मैंने अपने आस-पास के वातावरण को अनदेखा नहीं किया। अपने अन्तर्द्वन्द्वों को भी। जब जैसा बन पड़ा, लिखा। लगता है, शैली, शब्द, सब भावों के साथ-

साथ, भावों के पीछे-पीछे स्वतः अनुगमन करते रहते हैं। जब कहने के लिए कुछ होना है, तो वह किसी सीमित शब्द या शैली का मोहताज नहीं होता। सद्प्रेरणा से जो लिखा जाता है, वह निरर्थक जाए, ऐसा हो ही नहीं सकता।

यह मेरी विनम्र मान्यता है। मेरी विनीत धारणा। शेष साहित्य के बड़े-बड़े शब्दों से, बड़े-बड़े बिंब-विधानों से मुझे भय-सा लगता रहा है। सच पूछिए तो शैली, प्रक्रिया जैसे शब्द मुझे बोझिल लगते हैं। इन शब्दों के क्या-क्या विस्तार हैं? इनका विवेचन तो प्राध्यापक-पंडित ही कर सकते हैं। लेखक का काम लिखना है, जिस तरह हवा का काम अनायास प्रवाहित होना—होते रहना !

□□

UNIVERSITY

हिमांशु जोशी
7/सी II, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज - एक, दिल्ली-110 091 फोन : 2252330

HIMANSHU JOSHI
7/C II, HINDUSTAN TIMES APARTMENTS, MAYUR VIHAR, PHASE-I, DELHI-110 091 PHONE : 2252330

प्रिय सुरेखा,

तुम्हारा पत्र कल मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई कि तुम स्वस्थ, सकुशल हो। तुम्हारा शोध-कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा है।

○

तुमने इस बार पत्र बड़े कलात्मक ढंग से लिखा है। अपनी सुरुचि का परिचय दिया है। बड़ा अच्छा लगा। जीवन में कोई काम छोटा बड़ा नहीं होता। जब जो भी काम करो, पूरी आस्था और तन्मयता के साथ।

○

तुम्हारी नौकरी पक्की होने जा रही है, जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। मेरी अग्रिम हार्दिक बधाई। तुम खूब प्रगति करो। खूब प्रसन्न रहो, यही मैं चाहता हूँ।

एक बात हमेशा याद रखना कि तुम्हें बहुत-बहुत प्रगति करनी है। कई आसमानों की ऊँचाइयाँ छूनी हैं। मेरा स्नेह और आशीर्वाद सब तुम्हारे साथ है। सदैव।

○

'अक्षांश' कहानी को निगूढ़ (एब्सट्रैक्ट) कहानी कहना अधिक उचित होगा। यह फैंटेसी के निकट है। इस तरह के कथा-प्रयोग मैंने कभी-कभी किए हैं, जो वास्तविकता के निकट होते हुए भी कभी-कभी असम्भव से लगते हैं और पाठकों को किंचित चौंकाते भी हैं। अन्त में पढ़ने के उपरान्त पाठकों को बहुत कुछ सोचने के लिए विवश भी करते हैं।

○

o
शैलीगत बातें भी पूछी हैं तुमने।
शैली / शिल्प के मैंने अनेक प्रयोग किए हैं।
भविष्य में बहुत कुछ और भी करना चाहता हूँ।
कथनगत शैली के ये प्रयोग तुम्हें यत्र-तत्र
देखने को मिलेंगे।
'अपने ही कस्बे में' कहानी डायरी की शैली में है।
प्रति दिन घटित होने वाली घटनाएँ इस तरह
संजोई गई हैं कि एक कहानी का आकार ले लेती
हैं — अन्त में।
'जलते हुए डैने', 'स्मृति-चित्र', 'आँखें',
'पाषाण-गाथा', 'झुका हुआ आकाश', 'अभाव',
'दंशित', 'फासला', 'न जाने', 'छोटी ई'
आदि अनेक कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली में हैं।
जैसे कोई अपने जीवन की किसी घटना का वर्णन
कर रहा हो।
o
'एक वट वृक्ष था' लोक-कथा की शैली की कहानी है।
o
'लिखे हुए शब्द' तथा 'जो घटित हुआ है'
ये कहानियाँ फैण्टेसी के निकट हैं। जिस में
असम्भव-सा लगते हुए भी सब सम्भव है।
ऐसा ही यथार्थ में होता है, ऐसी प्रतिक्रिया पढ़ने के
पश्चात होती है।
o
आशा है, इन सुझावों से तुम्हारा काम चल जाएगा।
अपनेपन का तुम्हारा पूरा अधिकार है। कभी तुम्हारे
क्षेत्र के निकट आने का अवसर मिलेगा तो तुम से
अवश्य भेंट करूंगा।
o
तुम कैसी हो? खूब पढ़ो, लिखो! तुम्हारा भविष्य बड़ा
उज्ज्वल है।
सस्नेह, तुम्हारा,

[signature]
.5.'93

:- परिशिष्ट -:

1) मेरा बचपन
2) साक्षात्कार
3) मेरी रचना प्रक्रिया (लेख) आठवाँ स्वर
4) पत्र

:- संदर्भ ग्रंथ सूची -:

1) लेखक के कथासंग्रह

1)	हिमांशु जोशी	अन्ततः	पूर्वोदय प्रकाश, प्रथम संस्करण - 1965
2)	हिमांशु जोशी	हिमांशु जोशी की विशिष्ट कहानियाँ	शारदा प्रकाशन, भूलभुलैया रोड, महारौली, नई दिल्ली 110030 प्रथम संस्करण
3)	हिमांशु जोशी	इक्यावन कहानियाँ	पराग प्रकाशन हरि प्रकाश त्यागी प्रकाशक, प्रथम संस्करण 1987
4)	कोश	नालन्दा विशाल शब्द सागर	संपादक : श्री नवलजी प्रकाश : आदीश कुमार जैन सुपुत्रला फूलचन्द जैन आदीश बुक डिपो, दिल्ली - 7

BARR. ... LIBRARY
SHIVAJI ... KOLHAPUR

*** आलोचनात्मक ग्रंथ सूची ***

1)	डॉ. नामवर सिंह	-	कहानी : नयी कहानी, लोकभारत प्रकाशन, तृतीय संस्करण : 1982
2)	डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	-	आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, साहित्य भवन प्रा. लि., इलहाबाद - 3 प्रथम संस्करण - 1966
3)	डॉ. सुरेश सिन्हा	-	नई कहानी की मूल संवेदना, भारतीय ग्रंथ निकेतन,प्रथम संस्करण-1966
4)	डॉ. सुरेश सिन्हा	-	हिन्दी कहानी : उद्‌भव और विकास अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली - 6 प्रथम संस्करण - 1967
5)	पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	-	नयी कहानी के विविध प्रयोग लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1974 15 - ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद,
6)	मधुर उप्रेती	-	हिन्दी कहानी : आठवाँदशक इन्दु प्रकाशन - प्रथम संस्करण 1984 अलीगढ़ ।
7)	डॉ. विनय	-	समकालीन कहानी समांतर कहानी, प्रथम संस्करण : 1977
8)	डॉ. सुमनकुमार "सुमन"	-	कहानी और कहानीकार
9)	कमलेश्वर	-	नयी कहानी की भूमिका

10) डॉ. लक्ष्मीनाराण लाल - हिन्दी कहानीयों की शिल्प विधि का विकास, साहित्य भवन प्रा लि , इलाहाबाद, व्दितीय संस्करण 1960

11) डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - व्दितीय महायुध्दोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास

12) डॉ. पुष्पपाल सिंह - समकालीन कहानी : युगबोध के संदर्भ - नेशनल प्रकाशन, नई दिल्ली 1986

13) डॉ. किरणबाला - समकालीन हिन्दी कहानी और समाजवादी चेतना

14) डॉ. सन्तबख्श सिंह - नई कहानी : नये प्रश्न साहित्यलोक प्रकाशन, कानपूर - 1981

15) डॉ. सु गो गोकाककर - मार्क्सवाद ओर हिन्दी कहानी, विद्या विहार, कानपूर - 3, प्रथम संस्करण जून 1979

16) डॉ. विवेकी राय - हिन्दी कहानी : समीक्षा और संदर्भ, राजीव प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1985 इलाहाबाद - 6

17) डॉ॰ वेदप्रकाश अमिताभ - नई कहानी : प्रतिनिधि हस्ताक्षर
जवाहर पुस्तकालय, प्रकाशक
प्रथम संस्करण 1988

18) डॉ॰ मंगल मेहता - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी :
दस्तुविकास एवं शिल्प

19) डॉ॰ गुलाबराय - हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

******